काव्यालोचन

[मध्यकालीन प्रसिद्ध कवियों के काव्य की
मार्मिक आलोचना]

श्री शंभूदयाल सक्सेना

रमेश बुक डिपो
त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर

१९५५

मूल्य १।।)

सूची

दो शब्द

—:o:—

इस पुस्तक मे जो निबंध संग्रहीत है, वे रचनाक्रम
अनुसार हैं, कवियों के कालक्रम के अनुसार नहीं। पुस्तक
प्रारंभिक अंश बहुत पहले प्रेस मे जा चुका था। आगे ज्यों-ज्
सामग्री तैयार होती गई, त्यों-त्यों छपती गई है, निबंधों
कलेवर भी कवियों की श्रेष्ठता के अनुसार नही है, जैसे प्रध
कवियों में होते हुए भी जायसी के काव्य का परिचय स
कबीर को देखते हुए संक्षिप्त है, परन्तु यह ध्यान रक्खा ग
है कि जिन कवियों के काव्य का परिचय दिया जाय उ
उनकी विशेषताओं का दिग्दर्शन हो जाय। मध्यकालीन का
के अध्ययन ने लेखक के हृदय पर जो प्रभाव छोड़ा है, उसे
ये निबन्ध व्यक्त कर सकें तो ठीक है। इसके सिद्धान्तों
सहमत होना न होना तो विद्वानों की इच्छा पर है।

प्रेस की कुछ भूलें रह गई है, परन्तु आशा करते हैं
इसका अगला संस्करण ठीक-ठीक निकल सकेगा।

सेठिया कालेज,
बीकानेर } शंभूदयाल सकसेना।

तुलसीदास और उनका काव्य

शताब्दियाँ अतीत के अन्धकार मे लीन हो गईं, पर आज भी अंग्रेज़ी भाषा शेक्सपियर और मिल्टन की भाषा कहलाती है। इसी प्रकार शताब्दियाँ बीत गईं और बीतती जायँगी, हिन्दी भाषा अभ्युदय के शिखर पर आसीन हो जायगी, उसमे सर्वाङ्गीणता का सम्यक् समावेश हो जायगा, उसका व्यापक क्षेत्र दृष्टि-सीमा के विस्तार को लाँघ जायगा, पर तो भी वह सूर और तुलसी की ही भाषा कहलायेगी। सूर और तुलसी हिन्दी के नाम के साथ एक-प्राण हो गये हैं। उन्हे समय पृथक् नही कर सकता। देश-काल की सीमा का व्यवधान जब आड़े आयगा तब हिन्दी हिन्दी ही न रह जायगी। इस जुगल-जोड़ी मे भी तुलसी का आसन ऊँचा है। उनका क्षेत्र व्यापक है, उनकी अनुभूति लोक-भावना को स्पर्श करने वाली है। उसमे स्थायो अन्तरा है; उसमें आज और सुदूर कल के मानव के हृदय मे झंकृत हो उठने वाला अमर संगीत है, ऐसा कि जो जीवनके हरएक पहलू को ढके हुए है। इसीलिए वह इतना लोकप्रिय है।

तुलसी ने हमारे साहित्यिक आदर्श की जिस प्रकार प्राण-प्रतिष्ठा की है, वह भारतीय वातावरण में ही लालित-पोषित हुआ है। उसमें हमारे गार्हस्थ्य एवं पारिवारिक जीवन की सुगन्ध बसी हुई है। उसमे हमारे नैतिक आदर्श सुरक्षित हैं। उसमें हमारी बौद्धिक मान्यताएँ समाविष्ट हैं। उसमे हमारी धार्मिक भावनाओं की देवमूर्ति का निरन्तर पूजन होता है। जिस प्रकार कलकल-निनादिनी भागीरथी की पवित्र धारा भारत-वसुन्धरा की अपरिहार्य संगिनी है; जिस प्रकार

उसने अपने असंख्य वरदानों से उसके कण-कण को आच्छादित कर रखा है, उसी प्रकार तुलसी की काव्य-धारा मे हमारी जीवन-भूमि सराबोर हो रही है।

विश्वसाहित्य पर एक दृष्टि डाल कर तुलसी का वास्तविक मूल्य आँका जा सकता है। उनकी विशालता और शालीनता, उनकी उच्चता और भव्यता का स्थान निर्धारित करनेके लिए विश्व-संस्कृति, विश्व-सभ्यता और विश्व-साहित्य के सम्यक् परिशीलन की दृष्टि चाहिए। हिन्दी और भारतीय साहित्य के दायरे मे सीमित करके उनकी काव्य-सृष्टि का पर्यालोचन नहीं हो सकता। वैसा करके हम उन मनीषी महात्मा को समीक्षा के छिछले माप से मापना चाहते हैं।

काव्यकला और काव्यचमत्कार कृत्रिम साधना के फल है। वे निष्प्राण और निस्तेज हैं, यदि उनके साथ मार्मिक और व्यापक अनुभूति का समन्वय न हो। सच्ची साधना का क्षेत्र अन्तःकरण ही है। जीवन-वैविध्य के जो नाना चित्र हृदय-पटल पर अपने अमिट पद-चिह्न छोड़ जाते हैं, उन्हें स्वीकृत आदर्शों के साँचे मे अभिलषित रूप देकर, कृत्रिम उपकरणों के सहारे, रमणीय रूप मे प्रकट करना कला और चमत्कार से भिन्न वस्तु है। साहित्य की यही आत्मा है। काव्य का यही संगीत है। इस साहित्य का स्रष्टा, इस संगीत का स्वरकार कोई महान् प्रणेता ही होता है। आगे के पृष्ठों मे हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि गोस्वामी जी का काव्य-सहित्य कोरा वाणी-विलास ही नही वरन हृदय-तन्त्री का स्वाभाविक संगीत है, आत्मा के दिव्य रूप का अपूर्व स्फुरण है।

गोस्वामीजी का आविर्भाव हिन्दी भाषा, हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता के पुनरुत्थान के रूप मे

हुआ; यद्यपि इस प्रवृति का वायुमण्डल हिन्दू-साम्राज्य के पतन के बाद से ही अपने आकार को ग्रहण कर रहा था। सहस्रों वर्ष की पुरातन, सम्मान्य और स्वर्ग की ऊँचाई पर आसीन देवोपम संस्कृति पर इस्लाम का बर्बर प्रहार, उसको विध्वस्त और निर्मूल करने के हेतु उसका भीषण ताण्डव, यदि बिना किसी प्रतिक्रिया के संपूर्ण हो जाता तो भारतवर्ष को हम ऋषियों और मनीषियों का देश न कह कर मुर्दों का देश कहना अधिक उपयुक्त समझते। इस्लाम की आँधी जब पहले पहल अरब के मरुस्थल में उठी थी, और उसने वहाँ के आकाश को भीम वेग से आच्छादित कर लिया था, उस समय उसमे बर्बरता की मात्रा विशेष थी। कई शताब्दी उपरान्त फ़िलस्तीन, फारस और अफगानिस्तान के विस्तृत पथ को पार कर जब उसने भारत मे प्रवेश किया तब वह -सभ्यता और संस्कृति के तत्वो को ग्रहण करके भीतर से मृदुता और मसृणता का मूल्य समझने योग्य होगई थी, यद्यपि अभी तक उसका बाह्य दर्शन भयावह था। हिन्दू और बौद्ध सभ्यता का अयोग्य वारिस तत्सामयिक भारतीय राष्ट्र अपने उस पतन-काल मे भी उस प्राचीन आलोक और वैभव को भूला न था। उस विश्ववंद्य सभ्यता की तुलना मे इस्लाम उसे एक अभिशप्त बवंडर प्रतीत हुआ। फलतः शारीरिक प्रतिरोध की शक्ति के परास्त होजाने पर अन्यान्य शक्तियो ने उसे दुरदुराया, उस पर अपनी घृणा और अपने रोष की वर्षा की। इन्ही असन्तुष्ट चेष्टाओ के प्रयत्नों मे जहाँ परदा-प्रथा और छुआछूत के गरल की सृष्टि हुई वहीं जातीय पुनरुत्थान की मधुर भावनाओ से अमृत का घट भी परिपूर्ण होकर अस्तित्व मे आया। इस अमृत-कलश को भरने मे तुलसी का स्थान विशेष महत्व का है। तुलसी ने अकेले हमारे इस जातीय पुनरुत्थान के कार्य मे जो सहयोग दिया है वह

संभवत: किसी अन्य एक व्यक्ति ने नहीं दिया। इस दृष्टि से, एवं सर्वथा साहित्यिक दृष्टि से भी तुलसी तुलसी ही हैं। उनकी समकक्षता का दावा करनेवाला कोई दूसरा कवि, समाजसुधारक, योद्धा, राजनीतिवेत्ता अथवा राष्ट्रनिर्माता हमारी दृष्टि मे नहीं आता। गंगातट पर एक कुटिया मे बैठे हुए, इस जटाधारी संसार-त्यागी महात्मा ने अपने आस-पास के संसार का जो महत् उपकार किया है, उसका कौन अन्दाज़ लगा सकता है ? इस मनीषी की दृष्टि कितनी पारदर्शिनी, इसका ज्ञान कितना विस्तृत, इसकी कल्पना कितनी अकल्पित, इसकी भावुकता और सहृदयता कैसी कणकण-व्यापिनी थी—यह इसकी अपूर्व सृष्टि और उसके मोहक सर्वव्यापी प्रभाव से हृदयंगम किया जा सकता है।

तुलसी की रचनाओं का व्यापक दृष्टिकोण—

किसी भी एक साहित्यकार ने जीवन को इतने व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देखा। आकाश की तरह सबको छा लेने की क्षमता और किसी मे नहीं है। 'जायसी' को लीजिये। सौंदर्य और प्रेम की लोकोत्तर भावना का कैसा मर्मस्पर्शी और हृदयहारी चित्र उन्होने खींचा है। उनके लौकिक प्रेम और विरह की वाणी मे अलौकिक सौंदर्य और विरह की व्याकुलता की अद्भुत झांकी देखने को मिलती है। सामान्य जीवन की मधुर-मनोहर चित्रावली प्रस्तुत करने मे उन्हे कमाल हासिल है। पर उनमे जीवन की सर्वाङ्गीणता का अभाव है। सूरदास भी अपने क्षेत्र मे अपना जोड़ नहीं रखते। वात्सल्य-वृत्तियो के अंकन में, प्रेम-पीड़ा के प्रदर्शन में, इस अन्धे ने दुनियाँ की आँखो को रोशनी दी है। इसकी कृपा से जीवन के कई क्षेत्रो मे ऐसी धनघोर रस-वर्षा हुई कि तृणरहित ऊसर भूमि भी शस्य

श्यामला होकर धरित्री के रूप में मन को मोहने लगी, किन्तु तुलसी एवरेस्ट की ऊँचाई पर खड़ा है। रामकृपा से उसे अनन्त दृष्टि (unfailing vision) प्राप्त है। जीवनमन्दाकिनी की सहस्र धाराएँ, जो अजस्र गति से प्रवहमान होरही हैं, वे सब उसकी दृष्टि से बँधी हुई है। बाबा कबीर की सरस्वती सामान्य जीवन के और भी पास आ गई थी। पर उन्होंने अधिकतर उसकी स्थूलता को उपकरण बनाकर सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूतियों का चित्रण करने मे उसका उपयोग किया। उनकी कविता का विषय अध्यात्म और परमात्म सत्ता थी। संसार और जीवन तो दृष्टान्त रूप में उनके यहाँ गृहीत हुए हैं। हॉ, यह अवश्य है कि कबीर का ससार एवं जीवन का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म और अपरिमित था। जीवन और समाज की प्रत्येक भावभंगी को उन्होंने देखा था और उस पर विचार किया था। तभी तो वे उसे अपनी इंगितमयी वाणी मे बड़ी स्पष्टता से व्यक्त करते हुए अपनी साधना को सफल करते जाते हैं। वे जब कहते है—

> यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुइ गात।
> अपने जिय से जानिये, मेरे जिय की बात॥

तब वे एक साँस में संसार और अध्यात्म, जीव और परमात्मा, स्थूल जीवन और परोक्ष सत्ता का एक साथ व्याख्यान करते है। उनमे सर्वसाधारण के लिए वाणी-विलास, ज्ञानियोके लिए तर्क-बुद्धि भक्तो के लिए भावावेश तथा तत्वदर्शी महात्माओ के लिए सुगंभीर दार्शनिकता की कमी नहीं हैं। पर उनमे जो कुछ है वह जीवन की वास्तविकता को रसमय नहीं बनाता, उसे अपने प्रेम से आच्छादित नहीं करता। इसलिए वह जीवन के लिए नहीं है; फलतः वह काव्य-साहित्य का वह अंग नहीं बन सकता जो लोगो के कंठ का हार बना

रहता है । सुख मे, दुःख मे, ईर्षा मे, प्रेम मे, उत्सव और आनन्द के समय, राग और विराग के अवसर पर उसे अपना संगी और सान्त्वना-प्रदायक नही समझा जा सकता । तुलसी इस विशेषता को उसकी सर्वाङ्गीणता के साथ अपने मे लिए हुए है । इसीलिए वह जनसाधारण का कवि, उनके जीवन-संगीत का गायक तथा उनकी भावनाओं का चितेरा है ।

कविता के गुण और तुलसी के काव्य मे उनकी योजना --

कविता की विशेषताओं मे सार्वजनीनता, भावमग्नता और रसज्ञता प्रमुख है । इस त्रिवेणी की वारिधारा मे अवगाहन करके जो कवित्व-कुसुम प्रस्फुटित होता है उसमे स्थायी सुगन्ध, एकरस सुषमा और विश्वजनीन लावण्य-श्री वर्तमान रहती है । कवि की विचारधारा का साधारणीकरण इसी सार्वजनीनता अर्थात् प्रसाद गुण के द्वारा होता है । कितनी अनमोल विचारावली, कितनी मार्मिक भाव-धाराएँ इसके अभाव मे श्रेणी-विशेष के पाठको के संकीर्ण दायरे मे सीमित रह जाती है । तुलसी की वाणी इस विशेषता से परिपूर्ण है । सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव एवं व्यापार को सीधी सरल शब्दावली मे प्रस्तुत करना तुलसी बहुत अच्छा जानते हैं । इसके अतिरिक्त स्वाभाविक सरलता के प्रत्येक क्षेत्र को तुलसी ने मथ-मथ कर उसमे से से अच्छी तरह नवनीत रस निकालकर प्रस्तुत किया है। उनके समस्त ग्रन्थ पढ़ जाइये । जहाँ उन्होने आलंकारिक शैली का भी आश्रय लिया है, वहाँ भी सरलताके तत्वो को छोडा नहीं है । वाणी में सरलता भाषा-विन्यास मे सरलता, छन्दो के चुनाव मे सरलता, शैली मे सरलता के साथ ही उनके पात्रो के जीवन मे भी सरलता कूट-कूट कर भरी है । उनके राम के भोले भाव देखिये । वे अपने

राजतिलक के संवाद को सुनकर सोचने लगते हैं:—

जनमे एक सङ्ग सब भाई। भोजन, सयन, केलि, लरिकाई।
बिमल बस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।

विभीषण को लंका का राजा बनाते समय का उनका सरल उदार रूप कवि के शब्दो मे इस भाँति व्यक्त हुआ है—

जो सम्पति सिव रावनहि दीन्ह दिये दस माथ।
सो सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

केवट और राम के संवाद का दृश्य देखिये। हृदय की निष्कलुष सरलता का भाव कैसा सुन्दर है?

रावरे दोष न पॉयन को, पगधूरि को भूरि प्रभाव महा है।
पाहन ते बन-बाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है।
पावन पॉय पखारि कै नाव चढ़ाइहौ, आयसु होत कहा है?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा हैं।

कूटता, जटिलता और छलछिद्रो से रामायण के वातावरणका कोई मेल नहीं है। इसी सरलता के जादू ने तुलसी के कुटियो से प्रासादो तक, निरक्षर-भट्टाचार्यों से पण्डित-मण्डली तक फैले हुए पाठको को भावमुग्ध कर रक्खा है। सभी इस महाकवि के हृदय के समीप पहुँच कर अपने को उसका उपयुक्त श्रोता तथा अन्तरङ्ग मित्र मानने लगते है। उसके राम और सीता, उसके भरत और लक्ष्मण, उसके हनूमान और सुग्रीव सरलता के उपकरणो से निर्मित हुए है। उनके जीवन-व्यापार मे उस सरल संसार की झाँकी है जिसके लिए हमारे निरन्तर-संघर्षमय जीवन आकुल एवं लालायित रहते है। उनकी मोहिनी किसे मन्त्रमुग्ध नहीं करती? जहाँ कहीं वक्रता का अवतरण और आर्जव का तिरोभाव हुआ है, वहाँ

दोनो पहलुओ को प्रदर्शित करके वाचक की सुकुमार वृत्तियों को स्वतः जागरूक होने दिया गया है; फलतः वहाँ सरलता का मूल्य और भी अभिराम रूप में प्रकट हुआ है। मंथरा और कैकेयी की मंत्रणा का स्थल इसी प्रकार का है। और कहाँ तक कहें, जिसने वनवासी बर्बर कोल-किरातों में भी सरलता के प्राण फूँक दिये हैं, उस कवि की कविता सर्वसाधारण की वस्तु न होगी तो और क्या उस कवि की होगी जो वक्रोक्तियो और श्लेषों के अस्वाभाविक संसार में रहता है।

भावमयता की ओर तुलसी की प्रवृत्ति को दिखाना सत्य को दीपक लेकर बताने का प्रयास करना है। किसी कवि की भावमयता का आकलन उसकी मुक्तक-रचना-शैली मे जिस दृष्टिकोण से किया जाता है उसी दृष्टिकोण से प्रबन्धकाव्य में नहीं हो सकता। प्रबंध-काव्य कथासूत्र को लेकर चलता है। उस सूत्र-संबंध को बनाये रखने मे ही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार के काव्यों में भावमयता का पता कवि की उस सहृदयता से लगता है, जिससे वह उपाख्यान के मर्मस्थलो का सङ्कलन करता है। इस प्रवृत्ति मे उसकी भावुकता की परख हो जाती है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक देकर तुलसी के सम्बन्ध मे ठीक इसी दृष्टि से लिखा है—"प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं—

राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन; चित्रकूट मे राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य;

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप ; भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है। एक सुन्दर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है ? इस का गोस्वामी जी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली मे तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सब से अधिक स्पर्श करने वाला ; उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारने वाला होता है ; यह बात समझकर मार्ग मे उन्होने ग्रामवधुओ का सन्निवेश किया है ।···राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने मे गोस्वामीजी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार रामचन्द्र प्रसन्नमुख निकल कर दासदासियो को गुरु के सुपुर्द कर रहे हैं, सबसे वही करने की प्रार्थना कर रहे हैं जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूत-व्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग मे पशु-पक्षी भी विकल हैं। भरत जी जब लौट कर अयोध्या आये, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्रीहीन दिखाई पड़ीं ; नगर भी भयानक लगा।······चित्रकूट मे राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है ! 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों मे आँसू भर लेते हैं।"

रामचरित मानस प्रबन्ध काव्य है। कवितावली और गीतावली में कथा का निरन्तर सूत्र मानस की भाँति नहीं है तो भी उनमें कथानक का क्रम पाया जाता है। इसीलिये उनमे मानस की अपेक्षा कवि की भावुकता विशेष रूप मे प्रगट हुई है। कथाभाग के नीरस अंशो का परित्याग उनमे स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह सब होते हुये भी तुलसी मे सस्ती भावुकता नही है। वे हृदय मे ऊपर-ऊपर से चुटकियाँ लेकर नहीं रह जाते, प्रत्युत अन्तःकरण की समस्त उदात्त वृत्तियो मे जागरण पैदा करने की अपूर्व कला प्रदर्शित करते हैं। उनके शील निरूपण मे व्यक्तित्व का उत्कर्ष है, तो उनकी मौलिक सृष्टि में निजत्व से परे विविधता का प्रकाश है। उनकी सहृदयता मे कौनसी विशेपता अधिक निमग्न और निर्माज्जित है यह कहना कठिन है। उन्हीं के शब्दो मे 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कह कर सन्तोष करना पड़ता है। तथापि उनकी भावुकता के विषय मे इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह समुद्र की गहराई की की भाँति सुगंभीर है, और उनकी चित्तवृत्ति अविराम-धारापात-निर्झर की भाँति तरल और ढरनशील है। यह संगीत उन्हीं की सुमधुर-सकरुण वंशी से प्रसूत हो सकता था—

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढे।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पॉय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
'तुलसी', रघुवीर प्रिया-श्रम जानि बैठि बिलम्ब कै लौ कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।

साँभर झील में जो कुछ पड़ जाता है सभी नमक बन जाता है। भावुकता की इस मन्दाकिनी में भी जो कुछ पड़ गया है वह उसमें एकरस और एकप्रास हो गया है। हृदय के कलुष और उसके विकार को प्रक्षालित करने के लिए तुलसी के पास अपार निधि है।

स्थल स्थल पर हृदय के वैभव को लुटाने पर भी उनमे इसकी कमी नही प्रतीत होती। उनकी हृदय-विपंची के तारों की इस मधुर झंकार का अस्तित्व संसार में तब तक शिरोधार्य होगा जब तक मानवहृदय भावप्रवणता की भावना से अनुप्राणित है। शुष्क नीरस जटाजूटधारी इस कुञ्चितललाट कवि मे विश्व-अनुभूति का कैसा अभूतपूर्व केन्द्रीकरण हुआ था !

तुलसी की रसज्ञता का निर्देश उन्हीं की आत्मचर्चा के सहारे भोले भाव से कोई करने चले तो वह कुए मे गिरेगा।

कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे॥

कह कर रामचरित मानस की रचना करनेवाला यह विश्वद्रष्टा कवि बड़ा विचित्र और विनोदी है। 'कवित-विवेक' की भाँति ही उसकी रसज्ञता है, यद्यपि इससे वे एकान्ततः इनकार नही कर सके है। वे स्वयं कहते हैं—

हम तो चाखा प्रेम रस पतनी के उपदेस।

जिसने तुलसी की भाँति ही प्रिया के प्रेमरस और उपदेश-रस दोनो चक्खे हों, वही उनकी रसज्ञता का परिचय दे सकता है। उनकी रसज्ञता उनके चातक की अनन्यता लिये हुए है। वे कहते हैं-

बध्यो बधिक परयो पुण्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक-प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच।

विश्व-साहित्य के अन्य महाकवियों की रसज्ञता में तुलसी की यह निष्कलुष पवित्र-पावन दृष्टि इस प्रकार परिलक्षित नहीं होती। प्रेम की ऐसी पवित्र-धारा का अवगाहन अन्यत्र दुर्लभ है। वही तुलसी के यहाँ सुलभ है। तुलसी की रसज्ञता के जो नाना चित्र हमे मिलते हैं उनमे एक-दो को छोड़ कर प्रायः सभी तीर्थों की पवित्र वारिधारा

में घुलकर प्रकट हुये से प्रतीत होते हैं। उनकी रसज्ञता शारीरिक व्यवधान का अतिक्रम करके इन्द्रियजन्य-वासना से ऊपर उठ जाती है। वह ऐसा अलौकिक वातावरण सृजन करती है, जिसमें साँस लेने में रूप-सौष्ठव तो रहता है, परंतु कोरी ऐन्द्रियता का तिरोभाव हो जाता है; प्रेम के निगूढ़ मकरन्द की सुरभि और सुषमा तो कहीं नहीं जाती परंतु उसकी उद्दाम वासना के 'पार्थिव वर्णगंध' का पता नहीं रह जाता। उनकी निम्न पंक्तियो में उनकी रसज्ञता पंख पसारकर साहित्य के आकाश को छाये हुये है, तो भी क्या सहृदयों का हृदय-भ्रमर अघाता है? उसकी तृषा अतृप्त रह जाती है, पर वह तुलसी को उनकी कृति के लिए साधुवाद दिये बिना नहीं रहतो।

सीता, राम और लक्ष्मण वनवीथियों मे चले जा रहे हैं। पार्श्व-वर्ती ग्रामों के स्त्री-पुरुष अनूप-रूप राजकुमारों के दर्शनार्थ दौड़ पड़ते हैं। ग्रामवधुएँ साहस करके अपनी सहज सरलता से जानकी जी से पूछती हैं, और वे उनको किस प्रकार उत्तर देती हैं, इस विषय का दिग्दर्शन तुलसीकी विदग्ध वाणी मे इस प्रकार हुआ है—

कोटि मनोज लजावनहारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल वानी। सकुच सीय मन मँह मुसुकानी।
तिनिहिं बिलोकि विलोकति धरनी। दुहु सकोच सकुचत बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।
सहज सुभाव सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदनबिधु अंचल ढांकी। पिय तन चितै भौंह करि बांकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।

देव और बिहारी की कोटि के कवियों की रसज्ञता और इस रसज्ञता में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसमे सभ्यता, संस्कृति और शिष्टाचार का पवित्र वातावरण मूर्तिमान होकर रह गया है। एक आर्य कुल वधू की ललित लज्जा, उसके शील की मनोहर सुषमा, उसके सौन्दर्य की अनुपम लावण्य-श्री इस अपूर्वता के साथ कहाँ व्यक्त हुई हैं? ग्राम्य और नागर जीवन की झाँकी का यह दृश्य साहित्य की खान का कोहेनूर है। दूसरे कवियों की ऐन्द्रियता विलास की लालसा और वासना की ज्वाला से मुक्त नहीं हो पाती। तुलसी की मनोभूमि उस स्तर से बहुत ऊपर उठ चुकी है। उसके गंध-धूम से मुक्त सुनिर्मल क्षेत्र में वे विहार करते हैं।

कवितावली मे, रामविवाह के प्रसंग मे गोस्वामी जी ने एक स्थान पर अपनी रसज्ञता का सुन्दर परिचय दिया है। आपने लिखा है—

> दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
> गावनि गीत सबै मिलि सुन्दरि वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।
> राम को रूप निहारत जानकि कङ्कन के नग की परछाहीं।
> या ते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

वहां भी रसज्ञता की पराकाष्ठा के साथ कुल-शील की सुरक्षा का रमणीय प्रयत्न देखा जाता है। गोस्वामी जी इस बात को कभी विस्मरण नहीं करते कि कविता जीवन के उपयोगी पहलू का तिरस्कार करने खड़ी नहीं हो सकती। वह जीवनदायिनी होनी चाहिये, कोरी उन्मादक नहीं। गंगा और गोदावरी, काशी, और काञ्ची का देश उमर खय्याम की रंगीन रुबाइयों के अनुकूल अपने को बनाने चलेगा तो कृत्रिम हो जायगा, अपने सरल स्वाभाविक

जीवन से दूर जा पड़ेगा। सीता और सावित्री के शील-सदाचरण का अमृत-रस जिसने पान किया हो, उस देश के जीवन का गीत वाल्मीकि और तुलसी की वाणी में ही गाया जा सकता है।

अन्यत्र एक स्थल पर रुचि की रसज्ञता दूसरेही रूप मे व्यक्त हुई है। वहाँ हम व्यंग पूर्ण हास्य से उसका मुख मंडित हुआ पाते हैं। उस रसज्ञता की यह मीठी चुटकी बड़ी भली और आकर्षक प्रतीत होती है।

> विंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
> गौतम-तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे।
> ह्वै है सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कञ्ज तिहारे।
> कीन्हीं भली, रघुनायकजू, करुना करि कानन को पगु धारे।

निर्दोष पर चुभती हुई चुटकी लेकर गोस्वामी जी ने संन्यासी-जीवन की एक मार्मिक अनुभूति को कह डाला है। तपस्या और साधना की चरम प्राप्ति से पूर्व की अवस्था मे अन्तःकरण की वृत्तियाँ किस ओर, कब और कैसी उन्मुख रहती हैं, इस बात को गोस्वामीजी भली भाँति जानते थे। उन्होने जीवन के दोनों चरम छोर छूकर देख लिये थे। संसारिक प्रेम से पूतपावन भगवद्भक्ति तक के मार्ग को उन्ही पैरों तय करने वाला यह यात्री प्रामाणिक ढंग से कुछ कहने का अधिकार रखता है।

मानव हृदय और मानव जीवन के कवि तुलसीदास—

सच्चे अर्थों में महाकवि वही है, जो देश-काल की सीमा से बद्ध न हो, जिसकी अनुभूतियाँ शाश्वत जीवन की गहराई मे उतर कर उसकी व्याख्या करती हों, जो सतयुग और कलियुग दोनों को समानभाव से प्रिय हो, जो प्राच्य और पाश्चात्य दोनो में प्रवाहित

होने वाली भावधारा की सुधाधारा से जगत का अभिसिंचन करता हो, जिसके दृष्टिकोण मे मन्वन्तर बसते हों जिसके कलकण्ठ मे सम्पूर्ण युग का सङ्गीत भरा हो। व्यास और वाल्मीकि मे, कालिदास और भवभूति मे, होमर और वर्जिल मे, दान्ते और मिल्टन मे, इसी चिरन्तन मानवजीवन का व्याख्यान है। तभी तो युग और सदियाँ उन्हे पुराना नहीं कर सकी हैं। उनमे बीसवी सदी के विज्ञानयुग का मानव-हृदय भी उसी भाँति रमता है जिस भाँति तत्कालीन मनुष्य की अन्तःप्रवृत्तियाँ क्रीड़ा करती थीं। ग्रीस, रोम अथवा भारत की प्राकृतिक सीमाएँ उनके प्रभाव को विश्वव्यापी होने से रोक नही सकी है। यदि ऐसा न होता तो गेटे का हृदय कालिदास के कवित्व को इतनी मार्मिकता से अनुभव न कर पाता। छन्द, अलंकार, रस और रीति की विशेषताओं से विश्वकवियो की यह विशेषता अधिक ध्यान देने योग्य है। गोस्वामीजी ने मानव-हृदय और मानवजीवन के चित्र सर्वत्र बड़ी रंगीन रेखाओं से अंकित किये हैं। उनके ये चित्र समभाव से पाठक के भावो को मथ डालते हैं। ऐसा कौन पाषाणहृदय है जो उनकी इस दिग्धता से द्रवीभूत नहीं होता ?

उनके मानव-हृदय के शाश्वत चित्रों का सङ्कलन करके देखिये, वे कैसे पूर्ण और सत्य है। सीतास्वयम्वर मे धनुर्भङ्ग से पूर्व के कुछ क्षणो मे सीता के हृदय की क्या दशा होती है उसका चित्र खीचते हुए गुसाईजी कहते हैं—

देखि-देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।
भरे विलोचन प्रेमजल, पुलकावली सरीर ॥
प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन-युग जनु बिधुमण्डल डोल ॥

पूर्वानुरक्ता एक कुमारी का हृदय ऐसे समय इस प्रतिच्छवि से पूर्ण दिखाकर कवि ने त्रैकालिक सत्य की स्थापना की है। सदा ही कुमारी हृदय ऐसे अवसर पर इसी प्रकार की व्याकुलता का अनुभव करता है और करेगा—

एक दूसरे स्थान पर वधू जानकी के हृदय का चित्र अङ्कित हुआ है उसे भी देखिये। रामचन्द्र राजतिलक के स्थान पर वनयात्रा को सन्नद्ध हुए हैं, उस समय वधू जानकी अपनी सास कौशल्या के सामने बैठी हैं--

बैठि नमित मुख, सोचति सीता। × × ×।
चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू।
की तनु-प्रान कि केवल प्राना। विधि-करतब कछु जाइ न जाना।
चारु चरन नख लेखति धरनी। × × ×।

बधूहृदय की भावनाएँ कैसी सादगी से किन्तु कैसे मर्मपूर्ण ढङ्ग से व्यक्त हुई हैं। आगे सीता के कथन के मिस शाश्वत नारी-हृदय जैसे खोल कर रख दिया है। किसी के लिए कुछ अलगाव नहीं है, कुछ अन्तर नहीं है, जैसे सब अपना ही अपना है। राजकुमारी जनकजा के कण्ठ के साथ नारी-जीवन का संगीत उत्थित होरहा है--

प्राननाथ तुम बिन जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुं कोउ नाहीं।
खग-मृग परिजन, नगरु बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन सम परनसाल सुखमूल॥
कस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु संग मंजु मनोज तुराई।
कन्द-मूल-फल अमिय अहारू। अवध सौध-सत सरिस पहारू।
राखिय अवध जो अवध लगि, रहत जानियहि प्रान।
× × ×

पाँय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं।
बार-बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही।

इस चित्र को कैकेयी के चित्र के समीप ही स्थान देकर कवि ने नारी के दो रूपों की झलक प्रस्तुत की है। कैकेयी पुत्र-प्रेम में अन्धी होकर पति के सुख के स्वर्ग को अपने हाथों गंगा की धारा मे बहाये दे रही है। उसका मोह, उसकी ममता, भरत मे केन्द्रीभूत है। सीता सुकुमारी ने अभी लज्जा से घूँघट खींचकर अन्तःपुर मे प्रवेश किया है। पति को अघा कर देखने की उसकी साध पूरी नही हो पाई है। उसके मुँह से तो—

छुन छुन प्रभुपद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी।

यही शब्द झरते भले लगते हैं। अवस्थानुसार दोनों का दृष्टि-कोण भिन्न हो गया है।

लक्ष्मण की माता, सुमित्रा, का हृदयाकन करने मे तुलसीदास ने और भी कमाल कर दिया है। लक्ष्मण की सम्भावना के प्रति-कूल उसके वे वाक्य कितने हृदयस्पर्शी है! मानव-हृदय मे त्याग की भावना का यहाँ परमोत्कर्ष है। वह अपने पुत्र को रोकती नहीं, यह भी नही कहती कि बेटा, थोड़ा सोच-समझ तो लो। तो भी उसके हृदय का स्नेह-रस और वात्सल्य भाव उसके शब्दों से छलका पडता है। उसके पत्थर के शब्दो की तह में उसके प्रेम का सागर हिलोरें ले रहा है, जिसमे पाठक आत्मभाव विसर्जित करके निमग्न हो जाता है—

तात, तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।
अवध तहाँ जहँ रामनिवासू। तहँइ दिवस जहँ भानुप्रकासू।
जो पै सियाराम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं।

नारी-हृदय की उत्सर्ग-भावना मूर्तिमान होकर बोल पडी है। इसी प्रकार दशरथ-कौशल्या, ऋषि-मुनि, ग्रामवासी स्त्री पुरुष, कोल-किरात, नर-वानर सबके मनोभावो में गोस्वामीजी ने हृदय की शाश्वत भावनाओं को अभिव्यञ्जित किया है। उनकी वाणी कहीं पर क्षणिकता के प्रवाह मे नहीं बहकी है। धैर्य, सन्तोष और पूर्ण आधिपत्य के साथ उन्होने मानव-हृदय की विविध प्रवृत्तियो को आकार प्रदान किया है।

वे मानव-जीवन के अद्भुत पारखी हैं। उन्होने अपनी रचनाओं द्वारा अपने इस अपूर्व कौशल को अच्छी तरह व्यक्त किया है। तथापि रामकथा और उसके चरित्र उनकी मौलिक सृष्टि नही हैं, यद्यपि उनके रूप-निर्माण मे गोस्वामीजी ने अपनेपन की ऐसी गहरी छाप लगा दी है कि वे उनके स्रष्टा ही कहे जा सकते हैं। पहले बताया जा चुका है कि उन्होने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश करके अपनी अनुभूतियो को व्यक्त किया है। प.त-पत्नी, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, भाई-भाई, मित्र-मित्र, मित्र-शत्रु, गुरु-शिष्य, बन्धु-बांधव, नर-वानर, मनुष्य-पशु, पुरुष-प्रकृति, साधु-संन्यासी, ऋषि-मुनि सब को रामचरितमानस मे स्थान मिला है। प्रायः सभी संभाव्य सम्बन्ध अपने काव्य मे सफलतापूर्वक नियोजित करने वाले तुलसीदास ने हि‌ंदीभाषा को विश्व-साहित्य मे स्थान पाने योग्य अमूल्य कृति प्रदान की है। जीवन की ऐसी विशद व्याख्या और कोई भाषा-कवि नहीं कर सका है। शाश्वत जीवन-प्रवाह मे निरन्तर-तरङ्गायमान वीचियो और हिल्लोलो से जिसने अपने काव्य-कलेवर को सजीव किया है, उसकी जीवनानुभूति बड़ी तलस्पर्शिनी है। तुलसी सामूहिक समुत्थान की जिस सञ्जीवनी को लेकर प्रकट हुए है, वह उत्तर भारतीय राष्ट्र की रग-रग मे

मिट गई है। सब कोई उनमे अपने जीवन की प्रियवस्तु, अपनी रुचि की सामग्री, पा लेते हैं।

तुलसी का अलंकार-विधान, छन्द-निर्वाचन एवं उनकी भाषा—

काव्य के दो प्रधान पक्ष हैं, भाव-पक्ष और कला-पक्ष। अलंकार योजना का प्रयोजन कला-पक्ष की पूर्ति है। और कला-पक्ष का शृंगार अन्ततः भावोत्कर्ष मे सहायक होने के लिए है। इस तारतम्य को तुलसी ने जैसा समझा है और उसका निर्वाह किया है, उसको देखकर उनकी कलाविद्-रुचि और उनके कवि-हृदय का परिचय मिलता है। उनकी अलंकार-योजना अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूपविधान मे ही प्रवृत्त न रहकर हमारे भावोत्कर्ष मे भी सहायक होती है। उपमा और रूपक के इस महाकवि मे भाव-व्यंजना की बड़ी प्रबल शक्ति है। उदाहरणार्थ जनकनन्दिनी सीता के रूपका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा है—

जो पै सुधा-पयोनिधि होई। परमरूपमय कच्छप सोई।
सोभा-रजु मन्दर-शृङ्गारू। मथै पाणि-पंकज निज मारू।
यहि बिधि उपज लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहि सीय समतूल।

यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के चयन मे कैसी सुरुचि और सरस दृष्टि का आभास मिलता है? अलंकार यहाँ स्वयसेवक बने है, कल्पना गगनविहारिणी हो रही है, भावोत्कर्ष उत्तरोत्तर होकर एक अपूर्व रमणीयता की सृष्टि करता है। सीता की छवि, उनकी रूपछटा, उनकी दिव्य पवित्रता के आवरण मे कुलवधू की भाँति अपने आपको अवगुंठनवती किये कैसी हृदयहारिणी हो उठी है,

इसे बताने की आवश्यकता नहीं । चौपाई की कड़ियों को दो बार गुनगुनाने मात्र से तुलसी के कौशल की झलक मिलने लगती है ।

इसी प्रकार सीता-हरण के उपरान्त श्रीरामचन्द्र की विरहाकुल कातरोक्ति को गोस्वामी जी ने किन शब्दों मे रखा है, तनिक इसे भी देखिये । बन-बन मारे-मारे फिरते हुए रघुवीर कहते हैं—

हे खगमृग हे मधुकर-श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनयनी ।
खजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप-निकर कोकिला प्रवीना ।
कुंदकली दाडिम दामिनी । सरद-कमल ससि अहिभामिनी ।
बरुन-पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रससा ।
श्रीफल कनक कदलि हरखाही । नेकु न सक-सकुच मन माहीं ।
सुनु जानकी तोहि बिन आजू । हरखे सकल पाइ जनु राजू ।
किमि सहि जात अनखतो हि पाहीं । प्रिया बगि प्रगटसि कस नाहीं ।

इस अलंकार-योजना को पाकर कौन कविता धन्य नही होगी ? इसके पारायण से सोई हुई सौंदर्यानुभूति जग उठती है, हृदय के कपाट खुल जाते हैं, भावो की घनघोर घटा उमड़ कर समस्त अन्तः प्रदेश को छा लेती है । राम और सीता, उनका समस्त जीवन, उनके सुकुमार सुदर्शन कलेवर, उनके आसपास विस्तीर्ण वनश्री, उनके सहचारी पशु-पक्षी जो उनके अनुरूप लावण्य की प्रतिच्छवि को धारण करने की आकाँक्षा मे सराबोर रहते है, अपने जीवन-व्यापार द्वारा कैसी सुषमापूर्ण अनुभूति प्रदान करते हैं । अलंकारों के इस निर्वाह मे हृदय के योग्य सामग्री का प्राचुर्य कवित्व की सर्वोत्तम विभूति है । इस विभूति का तुलसी के यहाँ एकाधिपत्य है । इसीलिए उनकी अलंकृत शैली भी हमे स्वाभाविक और मनोरम प्रतीत होती है । हम अपने आपको थोड़ी देर के लिए उनकी कविता में विलीन कर देते हैं ।

वर्तमान हिन्दी कविता मे प्रस्तुत के आधार को छोड़ कर अप्रस्तुत-रूप-योजना की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसका फल कविता के अर्थ-बोध मे अस्पष्टता को उत्पन्न कर रहा है, जो स्वाभाविक है। यह बात नही कि तुलसीदास जैसे वश्यवाक् कवि इस प्रकार की अलंकार-योजना मे असमर्थ रहे हों पर वे जानते थे कि वाणी को सार्वभौमिक बनाने के लिए अलंकार-योजना का प्रसादमयी होना अनिवार्य है। इसी कारण 'मानस रूपक' और 'प्रयाग रूपक' जैसे लम्बे-लम्बे रूपकों का सर्वांगीण निर्वाह करते हुए भी वे एक क्षण को दुरूह नही होते। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साधर्म्य और सादृश्य की ओर उनकी दृष्टि बराबर बनी रहती है। उनकी रमणीय उक्ति से उनके अनुभव का आधार स्फटिक की भांति स्वच्छ और पारदर्शी प्रतीत होता है।

छन्दों के चुनाव मे विषय की अनुकूलता का ध्यान तुलसीदास ने बराबर रखा है। आचार्य केशवदास ने साहित्यशास्त्र का मंथन करने मे पारदर्शिता प्राप्त की थी। उन्होने 'रामचन्द्रिका' में अगणित छन्दों का समावेश किया, पर तुलसी की विदग्धता अनोखी है। अपने समय की प्रचलित समस्त छन्द-प्रणालियो का गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं मे प्रयोग किया, और सबको थोड़ा-बहुत परिमार्जित करने का श्रेय उन्हे प्राप्त है। छन्द के साथ विषय एवं स्थल के सामंजस्य को उन्होने बड़ी सूक्ष्मता से समझा है। इस विषय मे उनकी सी विवेचनात्मक दृष्टि हिन्दी के किसी कवि मे नहीं दिखाई पड़ती। कविवर देव और पद्माकर आदि की छन्द-रचना प्रख्यात है, पर तुलसी जैसी व्यापक और तत्वदर्शिनी सूक्ष्मता का गर्व वे भी नहीं कर सकते। उनके 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'

जैसे स्थलों में शब्द-विन्यास, छन्द-रचना और वर्ण्य विषय सब एक-कण्ठ और और एक-प्राण होकर प्रतिध्वनित हो उठते हैं। ऐसे स्थल उनकी रचनाओं में अनेक है, और सर्वत्र वे सफलता-पूर्वक रचित हैं, यथा 'घनघमण्ड नभ गरजत घोरा' और 'राम राम हा राम पुकारी' इत्यादि। केवल 'रामचरितमानस' को ध्यान-पूर्वक पढ़ने से ही छन्दों के सम्बन्ध में उनकी तारतम्यात्मक दृष्टि का पता लग जाता है। चौपाई और दोहों में निर्मित इस महाकाव्य में अन्य छन्दों तथा गीतों ने स्थान पाया है, पर वहीं जहाँ उनकी अनिवार्य आवश्यकता थी। स्तुति-प्रार्थना आदि के लिए विस्तृत कलेवर एवं विशेष लय वाले छन्दों का परिग्रहण इस बात का द्योतक है। चलती हुई कथा के जीवन में आकस्मिक परिवर्तन घटित होने की सूचना 'राम चरित मानस' में परिवर्तित छन्दों द्वारा अनायास मिल जाती है; तथा परिस्थिति और छन्दों का मेल ऐसा बैठा हुआ मिलता है कि पाठक को उनमें परदेशीपन की गन्ध तक नहीं मिलती। उदाहरणार्थ धनुर्भङ्ग से पूर्व कथा की धारा जिस प्रकार चली आ रही थी, धनुर्भङ्ग होते ही वह धारा बदलनी चाहिए थी। जहाँ सभा में प्रशान्त निस्तब्धता और विस्मय जड़ीभूत हो रहा था, वहाँ खलबली मचनी अनिवार्य थी। अवसर की इस अनु-कूलता को पिङ्गल-संगीत-विचक्षण तुलसी जाने कैसे दे सकते थे, चौपाई के लघु चरणों को अपर्याप्त समझ कर उन्हें यों लिखना पसन्द आया—

भरे भुवन घोर कठोर रव, रविबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहिकोल कूरम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं
कोदण्ड खण्डेउ राम 'तुलसी' जयति बचन उचारहीं।

इसी भाँति प्रायः उनका अधिकांश छन्द-निर्वाचन रस-भाव आदि की अनुकूलता को लिए हुए ही हुआ है। यह विशेषता आचार्य केशवदास ने भी अधिक उनके छन्दशास्त्र-पारंगत होने की है। यदि कहें कि दूसरे अनेक कवियों ने पिंगल के नियमों को हृदयङ्गम कर लिया था तो तुलसी के लिए कहना पड़ेगा कि उन्होंने पिंगल के मर्म को समझ लिया था। यह अन्तर उन्हें दूसरे कवियों से प्रमुख प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

इतना लिख चुकने के उपरान्त तुलसी की भाषा के लिए कुछ लिखने की आवश्यकता न थी, पर कुछ पाठक भाषा-शीर्षक के नाम से भी कुछ निश्चित बातें पढ़ने की सम्भवतः इच्छा करेंगे। भाषा भले ही विषय की आत्मा न हो, पर वह ऐसा आवश्यक और अनिवार्य साधन अवश्य है जिसके बिना विषय का निरूपण असंभव है। इस हेतु भाषा का मूल्य बहुत बड़ा है। भावों की सहजानुभूति कराने के लिए तो भाषा पर कवि का अधिकार होना ही चाहिए। हिन्दी-कवियों में भी अनेकों ने भाषा पर अनुपम अधिकार प्रदर्शित किया है, तो भी तुलसी पर जाकर हमारी दृष्टि ठहर जाती है। तुलसी जैसे अन्य बातों में सागर की भाँति अकूल-अगाध हैं वैसे ही भाषा की दृष्टि से भी हैं। पूर्वी अवधी, पश्चिमी अवधी और ब्रजभाषा इन तीन-तीन बोलियों में उन्होंने जो कुछ जैसे कह दिया वह अब तक अजोड़ बना हुआ है। व्याकरण-सम्मत शुद्ध परिमार्जित, सुगठित, शिथिलता से रहित, भावाभिव्यञ्जन में पूरी तरह समर्थ शब्दावली उनकी चेरी है। कहावतें और मुहाविरे उनका अनुशासन मानते हैं। उनकी शैली का शरीर ही उपमाओं के हाड़-मास से बना है। मनकी कोमल से कोमल और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को शब्दों द्वारा मूर्तिमान् कर देने में उन्हें प्रयास नहीं पड़ता।

उनके उक्तिवैचित्र्य मे जो मनोहारिता है. उसके लिये अन्य कवि तरसते हैं। बिना प्रयास के लक्षणा-व्यंजना एवं वक्रोक्ति की मनोरम योजना कर लेना उसी को साध्य है जिसको अक्षय शब्द-भण्डार सुलभ हो और जिसने शब्दार्थ-योजना के नानारूपो पर स्वायत्त प्राप्त कर लिया हो। तुलसी को शब्दो के वाचक, लक्षक और व्यंजक प्रयोगो की कुंजी प्राप्त है। इसीलिए उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक और हृदयग्राही होती हैं। वे अपने भावो के प्रकाशन के लिये जिस प्रकार चाहते हैं भाषा, शब्दो और उक्तियो को नचाते हैं। वाणी और अर्थ सहस्त्र करों से उनकी मनोदशा को व्यक्त करने मे लगे हुये प्रतीत होते हैं।

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुण दुख देहीं।

+ + + +

जनमे एक संग जल माहीं। जलज जोंक जिम गुन बिलगाहीं।

संत और दुष्टों के सम्बन्ध में कैसी सरलता से गोस्वामी जी आलोचना करते है ? इस उक्ति मे भाव-भाषा आदि मे से किसकी शिकायत हो सकती है ? पुत्र वियोग में कौशल्या किस भाँति अपने प्राण रख रही हैं, यह गोस्वामी जी के शब्दों मे देखिये—

लगे रहत मेरे नयननि आगे राम लखन अरु सीता।

साथ-साथ वनयात्रा को प्रस्तुत जानकी को राम समझाते हैं और सीता उत्तर देती हैं। कैसा औचित्य पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर कराया गया है:—

रामः—नर अहार रजनीचर करहीं। कपट भेष बन कोटिक फिरहीं।

डरपहिं धीर गहन सुधि आये । मृगलोचनि तुम भीरु सुभाये ।
सीता:—को प्रभु सग मोहि चितवनहारा । सिह-बधुहि जिमि ससक सियारा ।

× × × ×

मै सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू ।

सीधे-सादे शब्दो मे इतनी खूबी भरते जाना भाषा के चतुर शिल्पी के सिवा क्या सबको शक्य है ?

राम-जानकी के दाम्पत्य-जीवन का एक और शब्द-चित्र देखिये—

पुर ते निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै ।
फिरि बूझति हैं चलनोब कितौ पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अतिचारु चली जल च्वै ।

इसमे कवि ने कितनी अवस्थाओ और कितने हाव-भावो को गुम्फित कर दिया है । फिर भी भाषा कैसी प्रवाहमयी और स्वत: बोलती हुई है । काव्य-कला की अनेक विशेषताओं से युक्त इस वाणी-विलास पर किसका हृदय निछावर नहीं होता ?

अन्त मे हम इतना ही कहेगे कि गोस्वामी तुलसीदास को पाकर हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान धन्य है । हिमालय से कन्या-कुमारी तक, ब्रह्मपुत्र से अरब सागर पर्यन्त, विस्तीर्ण भूखण्ड मे भक्त, महर्षि, लोक-मर्यादा के रक्षक महाकवि तुलसीदास का जो यशोगान हो रहा है, वे उससे भी अधिक हमारे आदर-सम्मान के अधिकारी है । उन्होंने हमारे पतनकाल मे, हमारे पूर्वजो की वाणी मे, इ । दिव्य सङ्गीत को ऐसी एकान्त तन्मयता से गाया कि

वह हमारे रोम-रंध्रों मे गूँजकर रह गया है। इसी के प्रसाद से आज हम अपनी वेशभूषा, रीतिनीति, संस्कृति और सभ्यता की कद्र करने लायक सुरुचि और सुदृष्टि पा सके हैं, नहीं तो उठती हुई सभ्यताओ के वात्या-चक्र हमारे अस्तित्व को इतिहास के पृष्ठो की सामग्री बना देते। पश्चिम से पूर्व तक देख जाइये आपको प्राचीन सभ्यताओं के भग्नावशेषो पर नई इमारतें खड़ी मिलेंगी, जब कि तुलसी की कृपा से और उनके पिलाये रामरसायन से, हम भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रमों की कोमल समझते हैं, कुटियों की ओर हमारा ध्यान जा रहा है और हम मनुष्यता को मित्रभाव से देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं।

महाकवि भूषण के काव्य की विशेषताएँ

कवि के काव्य को समझने में उसका जीवन भी सहायक होता है, अतः कवि के जीवन के साथ सामञ्जस्य प्राप्त करने से ही उसकी कृति की यथार्थ परख हो सकती है और उसके प्रति उपयुक्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जा सकती है । कारण कवि परोक्ष रूप से अपनी कृति के पीछे सदा मौजूद रहता है । उसकी विशेषता, उसका अपना व्यक्तित्व, कभी उससे पृथक नहीं रहते । कवि जीवन की अनुभूति ही तो वह हिमनद है जिससे काव्य-मंदाकिनी का धारा प्रवाह उद्गत और प्रवाहित होता है । मेघदूत की पंक्ति में कालिदास का आत्मा रम रही है । राम चरित मानस की चौपाई में तुलसीदास के जीवन की छाप है । कालिदास और तुलसीदासका यथार्थ परिचय उनकी जीवन-कथा में विवादास्पद हो सकता है पर उनके काव्य में उन्हें देखा और समझा जा सकता है । काव्य में उनकी आत्मा परिचय के लिए उत्सुक है । कवि के यथार्थ दर्शन का स्थान उसका काव्य-मंदिर ही है । अन्यत्र वह इतनी आत्मीयता के साथ हमें दर्शन नहीं दे सकता । काव्य में उसका हृदय आवरण-हीन, उसका व्यक्तित्व आत्माभिव्यंजन की ओर उन्मुख रहता है । उसकी मधुर मूर्ति, उसके मन्द हास्य, उसकी तरल भावुकता, उसकी धारणाएँ, उसके आदर्श, उसकी अमर आत्मा के इंगित के रूप में वहाँ सदा सर्वदा विराजमान है ।

कविवर भूषण की भारती का अनुशीलन किये बिना ही उनके सम्बन्ध में जो धारणाएँ बनाने की चेष्टा की गई है, वे अन्ततः सार-

हीन ही सिद्ध हुई हैं। उन्हीं के परिणाम स्वरूप किसी ने उनके काव्य को भटैनी कहा है किसीने उन्हे चाटुकार की पदवी से विभूषित किया है, किसी ने उन्हे ओछी संकुचित साम्प्रदायिकता का प्रेमी बताया है। किन्तु क्या सचमुच ही भूषण की वाणी मे प्राणो का प्रवाह नही है ? क्या यथार्थ ही वह एक आत्मप्रशंसा के इच्छुक नरेश की इच्छा-पूर्ति का साधन है ? इसका पर्यवेक्षण करने के दो ही साधन हैं एकतो भूषण के संबन्ध मे प्रचलित दन्त-कथाएँ, दूसरी उनकी कविता। एक तीसरा साधन भी है समसामयिक लेखकों की गवाही।

भूषण के सम्बन्ध से प्रचलित किवदन्तियो के आधार पर तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे प्रथम श्रेणी के स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनके अन्दर जातिदर्प भरा था। वे स्पष्ट-वक्ता थे। उनके ये तीनो ही गुण उनकी सचाई (Sincerity के द्योतक हैं। जिस कवि के काव्य मे आत्मा की झलक न हो वह अपनी कृति के प्रति सच्चा (Sincere) क्योकर हो सकता है ? उसकी रचना मे प्राणो की सजीवना कैसे आ सकती है। भूषण ने शिवाजी को ही अपना आश्रयदाता क्योकर चुना और क्योकर उन्हे ही अपने काव्य का नायक बनाया तथा उत्तर भारत से चलकर सुदूर दक्षिण मे जा पहुंचे। यह क्या उनके अन्दर उद्वेलित हो रही उत्कट जातीय-भावना का परिचायक नहीं है ? औरंगजेबी शासन मे त्रस्त, अपमानित और प्रपीडित हो रहे हिन्दुत्व के प्रति इससे बढ़कर हिमायत का उदाहरण और कहाँ है ? अपने भीतर उबल रहे ज्वाला-मुखी को लेकर भूषण का कवि-हृदय ही इतना बड़ा कार्य कर सकता है। अपने आदर्शों के अनुकूल नायक को पा कर भूषण की

वाणी धन्य हो गई है। उस समय की चरम राष्ट्रीयता का रूप यही हो सकता है। जो आजकल की राष्ट्रीयता के पैमाने से उस समय की राष्ट्रीयता को नापते हैं, वे परिस्थिति से अनभिज्ञता प्रकट करते है।

भूषण की रचनाओं में जैसा ओज है, उनकी भाषा मे जैसा तीव्र वेग है, उनके हृदय मे जैसा भयंकर उफान है, उनके गुबारो मे जितने स्फुलिंग है, वे इस बात के साक्षी है कि उनके स्रष्टा के भीतर प्रचंड ज्वाला जल रही थी। मुग़ल सम्राट ने हिन्दुजाति के जिन जिन मर्मस्थलों पर आघात् किये थे उनके निशान कवि के हृदय पर ज्यो के त्यों सुरक्षित थे। वही अवसर पाकर 'शिव को न देहरा न मंदिर गुपाल को' कहकर चुनौती देने के बहाने अपने आन्तरिक गुबार को निकाल देता है, एवं 'लालियां मलिन मुग़लानियाँ मुखन की' के द्वारा हिन्दुपति की अपूर्व धाक के अतिरिक्त प्रपीड़ित प्रजा के प्रति एक आश्वासन है और उस से भी अधिक है भावी राम-राज्य की ओर संकेत।

भूषण को यद्यपि धन और सम्मान उनकी कविता के कारण ही प्राप्त हुए थे, पर उनकी कविता का इतना ही उद्देश्य न था। धन और मान तो उनकी प्रतिभा के अनुयायी होने ही चाहिये थे, पर उनका ध्येय तो स्वार्थ की समतल भूमि से सदा ऊँचा ही रहा। इसी कारण उनके समस्त प्रयास जातीय जीवन मे प्राण फूंकने एवं उसे बल देने मे ही लगे रहे। जब सौन्दर्य और प्रणय की वीणा बजा बजा कर दूसरे कवि एक अधःपतित जाति के राग रंगमय बिलासी जीवन के चित्र खींच रहे थे, उस समय भूषण ने अपनी ओजस्विणी वाणी मे भेरी-निनाद किया। उनके काव्य मे मौलि-

कना के उपादानों की प्रचुरता है। प्रभात कालीन जागृति और जीवन के तत्वो से उनके काव्य का श्रृङ्गार हुआ है। उस मे समय के प्रति क्रान्ति के बीज वर्तमान हैं।

समसामयिक लेखको और कवियो मे भूषण की ख्याति कम न रही होगी, इसका प्रमाण यही है कि वे तब से अब तक एक से लोकप्रिय है। किन्तु उनका विशेष उल्लेख उनके समसामयिको मे इसलिये भी अधिक नहीं मिलता कि वे उनकी मंडली से बिल्कुल पृथक खड़े है। किसी बात मे इनका उनसे मेल नही खाता। इतिहासकारो मे अधिकाश मुसलमान होने से उनसे भी हमारे इस जातीय कवि की प्रशंसा की आशा नहीं की जा सकती है। हमारा यह जातीय कवि अपने ही ढंग से निर्मित हुआ था, उसका काव्य भी अपने ही ढंग पर रचित हुआ और अपनी अपूर्व विशेषताओं के बलपर ही तब से अब तक सम्मानित होता आरहा है।

अपने शिवराज भूषण को अलंकार ग्रंथ के रूप मे प्रस्तुत करने पर भी भूषण का प्रयास कलापक्ष को विशिष्ट पद देने का नही था। अपने भावो को प्रकाशित करते समय उन्होंने कला-पक्ष को सदा अवान्तर स्थान दिया है। एकान्ततः मौलिक प्रयास होने के कारण भी कला का समावेश करने मे उन्हें कठिनाई पड़ी होगी। कला की प्रतिष्ठा अविरत साधना और एकात संयम चाहती है। भूषण युद्ध-क्षेत्र के कवि हैं। उनमे अविरत साधना और एकांत संयम की आशा करना वृथा है। वीणा और सितार के सुमधुर स्वरो को झंकृत करने का उन्हे अवकाश कहाँ है ? वे तो रण-भेरी पर मारू राग गाने वाले गायक हैं। उन्हें तो मुर्दो मे प्राण फूंकना है। उन्हें तो जाति को जगाना है। वे तो कड़खैत की भाँति खड़े होकर,

ऊँचा हाथ करके राष्ट्रस्थानों की ओर संकेत कर रहे हैं। उनकी वाणी मे रण-निमन्त्रण और युद्ध का आह्वान है। एंव उत्तर भारत की आत्मा को दक्षिण भारत का अनुकरण करने की प्रेरणा है।

भूषण की कविता में काव्यानन्द के साथ ऐतिहासिकता बड़े महत्व की वस्तु है। कहीं २ जहाँ इतिहास भी अंधकार मे टटोल रहा है, वहाँ भूषण जीते-जागते चित्र प्रस्तुत कर देते है। इनका ऐतिहासिक तथ्य-निरूपण बड़े महत्व की वस्तु सिद्ध हुआ है। मराठा इतिहास के आधुनिक विद्वानो ने भूषण के काव्य की इस विशेषता से पूरा लाभ उठाया है। युद्ध के सजीव चित्रो के लिये उन्हे इस कवि के वर्णन बड़े अनुकूल और प्रमाणित प्रतीत हुए हैं। तभी तो उसका शब्दशः अनुवाद अपने ग्रंथो मे देने मे उन्हे कोई संकोच नहीं हुआ है।

इस प्रकार भूषण का हिन्दी साहित्य मे स्थान निर्णय करते हुए उनकी समस्त विशेषताओ का विचार करना चाहिये। अन्यथा इस महा कवि के साथ पूरा न्याय नही हो सकेगा। केवल काव्य कला और साहित्य-शास्त्र की लीक पर अनुसरण करके उसकी यथार्थ महत्ता को नहीं समझा जा सकता है, जिसने विशाल मराठा साम्राज्य के निर्माण एवं जातीय जीवन को उन्नत करने मे पूरा भाग लिया था।

कविवर जायसी

प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवियो ने विश्व-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। जीवन की साधना और आराधना से ऊपर अध्यात्म प्रेम की पीड़ा से जिनका हृदय व्याकुल हो उठता है वे सजीव और प्राण-मय उद्गार ससार को दे जाते है, उनसे जीवन-मरुस्थल चिरकाल तक हरा-भरा रहता है। इस्लामी सभ्यता के रक्त-रंजित इतिहास मे सूफ़ीमत एक ऐसा ही प्रयास है, जिसने अध्यात्म प्रेम की मानिक मदिरा से अपने होठो को लाल किया था और उसके मद मे मतवाला बनकर एक अपूर्व संगीत कानो मे डाल दिया था।

अरब और फ़ारस से भारत का सम्बन्ध होने पर यह कब सम्भव था कि भारत के पल्ले मे सिर्फ़ विष ही विष पड़ता और इस्लाम के लिए अमृत रह जाता। महमूद गजनवी के साथ सूफ़ी सन्तो का समागम भी अवश्यंभावी था। तलवार और रक्तपात और धार्मिक विध्वस के साथ प्रेम और मस्ती के तराने भी यहाँ आने से रुक नही सकते थे, न रुके ही। राजनैतिक और सामा-जिक क्षेत्र मे अरब और भारत गले नही मिल सके पर प्रेम और साहित्य-क्षेत्र मे वे आलिगन पाश मे बँध गये। सूफी मतावलम्बी जायसी मे हम हिन्दु-मुसलमान दोनो को एक कठ से गाते हुये पाते हैं। उनमे कितना अंश हिन्दु है, कितना मुसलमान, इसका विश्लेषण करने चले तो उसमे दोनो का सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा। जायसी को जिन्होने पढ़ा है वे देख चुके होगे कि जायसी सर्वथा

भारतीय सूफ़ी बन चुके थे। फ़ारसी सूफ़ी होकर वे कभी 'पद्मावत' की रचना न करते। उन जैसे प्रतिभा-शाली के लिए कथानकों की क्या कमी थी? भाषा और छन्द की ऐसी बड़ी बाधा न थी जिसे वे पार न कर सकते पर उनके सामने वह संकुचित दृष्टि न थी। वे भारतवर्ष मे पाकिस्तान की कल्पना करने वाली दुनियाँ मे न बसते थे। उन्होने अपने स्वाभाविक रूप मे अपने प्राणो का संगीत गाया है। उनके सगीत मे उनके हृदय और उनकी आत्मा की झलक है। उनकी तीव्र अनुभूति उनके काव्य मे सभी बन्धनो को छिन्न-भिन्न करके व्याप्त हो रही है, इसलिए प्रबन्ध-काव्य होकर भी पद्मावत भाव-प्रधान काव्य है। जायसी ने भाव पक्ष पर विशेष बल दिया है। सीधी-सादी ग्रामीण भाषा और सरल सुबोध छन्द को चुनकर उन्होने यह बता दिया है कि कला और कवित्व कवि में रहते हैं। वह किसी भी सामग्री से अपनी प्रतिभा के द्वारा क्रान्त-दर्शी साहित्य की सृष्टि कर सकता है।

पद्मावत जैसे रत्न का प्रादुर्भाव करके हिन्दी-साहित्य को जायसी ने सूफ़ी सम्प्रदाय का चिरऋणी बना लिया है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना में कई बातो मे इसी ग्रंथ को अपने दृष्टि-पथ मे रखा है। काव्य टेकनीक के दो चार दोषो के रहते हुए भी पद्मावत संत कवि जायसी की अनमोल भेंट है। मिलनोत्कंठा एवं विरह-वर्णन मे जायसी ने जो प्रतिभा दर्शाई है वह बड़े बड़े कवियों मे मिलनी कठिन है। प्रिय के लिए इस तड़पन ने जायसी को आत्मा और परमात्मा के अद्वैत की ओर प्रेरित किया है, यहीं उनके रहस्यवाद का जन्म होता है। यह रहस्य-वाद उनकी एक विशेषता है, और उनकी आध्यात्मिकता

का सुन्दर प्रतीक है। जीव और ईश्वर, सृष्टि और जगत् के सम्बन्ध मे उन्होने बहुत गहरी डुबकियाँ लगाई हैं। यद्यपि जीवन के व्यापक क्षेत्र को उन्होने अपने काव्य का विषय नही बनाया है पर जो क्षेत्र उनके सामने आगया है उसकी व्याख्या मे सदा बड़ी सचाई से काम लिया है। अलंकारो की योजना मे भी वे जीवन की व्याख्या को भूले नहीं है। जिसके फलस्वरूप वे शब्दालंकारो के शब्दाडम्बर मे पडने से बच गये है।

पद्मावत के कवि जायसी अखरावट मे दार्शनिक विचारक बन गये है। यद्यपि उनकी दार्शिनिकता के बीज पद्मावत मे ही परिपक्व हो चुके हैं। प्रेम-कथा के लौकिक पक्ष का सरसता से निर्वाह करते हुये भी वे उसके आध्यात्मिक पक्ष पर बल देते रहे हैं। काव्य-साहित्य की दृष्टि से यह आवश्यक भी था कि वे लौकिक पक्ष की मधुरिमा कायम रखते, पर लौकिक प्रेम ही चरम लक्ष्य न होने से उन्हें अपने सिद्धान्तों की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा है, और काव्य का उपसंहार करते समय उन्हे उस ऐतिहासिक प्रेम-कथा को भी एक रूपक बताकर अपने कवि और अपने ऐतिहासिक का सामञ्जस्य स्थापित कर देना पडा है। कलाकार और विचारक दोनों को एक मूर्ति मे गढ़ देना पड़ा है। अखरावट उनके इस काव्य की उत्तरवर्ती रचना है। प्रेम-कथा उसका आधार नही है। इसलिए उसमे लौकिक की असारता मुख्य नही आध्यात्मिक उपलब्धि का सार मुख्य है। उसमे जायसी विचारक के रूप में हैं, कलाकार के रूप मे नहीं।

आलम कवि

हिन्दी भाषा और साहित्य पर मुसलमान कवियों का जो ऋण है उसे हमारे विद्वानो और समालोचको ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है, और करना भी चाहिए। एक देश मे पल-पोसकर और एक ही वातावरण मे साँस लेकर, यदि एक ही कंठ से हम गाने का उपक्रम करे तो कौन-सी अनोखी बात है? आश्चर्य तो तब होता जब कला और साहित्य मे भी हम धर्म और राजनीति की भाँति पूर्व और पश्चिम की ओर मुँह करके खड़े रहते। पर नहीं उनके सौंदर्य ने सब के नेत्रों को एकसा आकर्षित किया, सब के कानो को एकसा रस प्रदान किया और सब के हृदय एक-सी सौंदर्यानुभूति से द्रवीभूत हो गये। राजनैतिक स्वार्थो और धार्मिक हठवादिता की काली छाया इन स्वर्गीय प्रदेशो पर न पड सकी। मानव की आँखो मे बसी हुई रूप-छटा को मानव की आँखो ने पहचाना और वह उस पर निसार हो गया।

एक दोहे की अर्धाली पर शेख और आलम का जीवन-व्यापी सम्बन्ध हो जाना कला की बढ़ती हुई क़द्रदानी का सुन्दर नमूना है। कहते है कि आलम को मुसलमान हो जाना पडा था। पड़ा होगा, पर काव्य के क्षेत्र मे तो हम शेख और आलम दोनो को हिन्दू-संस्कृति से ओत-प्रोत पाते है। वे उसी माधुर्य्यपूर्ण जीवन के स्मारक है जिसकी वासन्ती बयार वृन्दावन और गोकुल की गलियो मे डोल रही थी। उनकी साहित्य-साधना मे कलमा और नमाज विदेशी और विधर्मी बनकर कभी नही खड़े हुए। हम तो

उन्हे प्रेमी वैष्णव भक्तों के स्वर मे गाते सुनते हैं—

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल कॉकरी बैठ चुन्यो करै।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गुन्यों करै।
'आलम' जौन से कुंजन मे करी केलि तहॉ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

कौन कहेगा कि इन पंक्तियों के रचयिता अपने को भारतीय मिट्टी से बना हुआ नहीं मानते थे ? इतनी तन्मयता से कुंज-केलि की याद मे कौन व्याकुल हो सकता है ? सत्य तो यह है कि कला और साहित्य मे जाति-पॉति का भेद एक नगण्य बात है। वहॉ तो प्रत्येक सहृदय के लिए द्वार खुला है। वहॉ रंग-रूप और कुल-शील से नहीं, हृदय की बेकली से ऊँचा नीचा पद निर्धारित होता है।

आलम और शेख सगुण परंमपरा के कवि थे। वे प्रेमी-गृहस्थ थे। साधु-सन्यासी नहीं। इस लिए उनमें भक्ति-विह्वलता का उन्मेष नही, प्रेम का उन्माद ही विशेष था। उनकी वाणी मे, उनकी काव्य-कला मे आध्यात्मिक साधना की खोज उस भॉति नही करनी चाहिए जिस भाँति सूर और तुलसी आदि मे करते हैं सूर-तुलसी विरक्त तपस्वी और अनन्य साधक थे। घर-बार, नाता-गोत्र सब कुछ त्यागकर वे भगवद्भक्ति मे लवलीन हो चुके थे। आलम और शेख लौकिक प्रेम और वासना की दुनियां मे बसने वाले एवं काव्य-साहित्य और कला मे पारंगत थे। उनकी रचनाओ मे अध्यात्म पक्ष की जो थोड़ी बहुत झलक है वह उस युग की उस परमपरा की विशेषता है जिसका संपर्क उन्हे प्राप्त था।

वे कवि थे, साधक नहीं, और कवि के गुण उनमे विद्यमान थे। सुन्दर भावुक हृदय था। प्रेमी स्वभाव था। कसक को पहचानते थे।

तन्यमता से परिचित थे। काव्य के मधुबन में कोकिला के आवेग के साथ वे पंचम-स्वर मे गाने के कौशल के उस्ताद थे। हृदय-वेदना की मर्मानुभूति में आकंठ मग्न होकर उन्होंने जो दिल के फफोले फोड़े हैं उन्हें वे चटकीली भाषा में व्यक्त भी कर पाये हैं। इसलिए उनका महत्व है। वे हृदय को अनुभूति का रस पिला सके हैं। उनकी रचनाओं मे काव्यकला का माधुर्य्य मिलता है जीवन की विस्तृत व्याख्या मे वे प्रवृत्त नहीं हुए है। उन्होंने जीवन का कलाकार की कूची के हलके स्पर्श से जहाँ तहाँ छुआ भर है।

प्रेम और भक्ति को योग और साधना के ऊपर स्थापित करने की जो वैष्णव परम्परा प्रचलित हो रही थी उसीका अनुकरण करने मे उन्होने अपने वाणी-विलास को सार्थक किया है। निर्गुण सत्ता के ऊपर सगुणोपासना को ठहराने मे कोई मौलिकता न थी, पर युग की प्रधान भावना होने के कारण उस समय के अधिकांश कवि इसी ओर अधिक प्रधावित हुए। प्रेम जैसी मधुर-मोहन प्रवृत्ति को योग के शुष्क-कठिन साधनो पर विजय पाते देख किसे गोपिका बनकर विरह-निवेदन करना भला प्रतीत न होगा? आलम और शेख मे तो प्रतिभा भी थी। इसीलिए उन्हो ने वैष्णव-भक्तो की प्रेम-पीड़ा को खूब अच्छी तरह दरसाया है, और प्रेम को लौकिक एवं वासनात्मक स्तर से कुछ-कुछ ऊंचा उठाने का सफल प्रयास भी किया है। उनके स्फुट काव्य का जो अंश प्राप्त होता है उसमे उनकी ये विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त होती हैं।

आचार्य केशवदास का काव्य

प्राचीन समय से ही 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केशव-दास' कह कर केशव के विषय में लोकमत का संग्रह किया जा चुका है, परन्तु यदि सचमुच यह लोकमत होता तो उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' आदि उपाधियों से विभूषित न किया जाता। कवित्व अपने यथार्थ सौंदर्य के साथ कहीं भी हो सर्वोत्तम ललित कला के नाते, मानव-हृदय को स्पर्श अवश्य करता है। वास्तविक कवि लोक-रुचि को और लोक-हृदय को साथ लेकर चलता है। मानव-जीवन की आशाओं और अभिलाषाओं का चित्रण करके उन्हें सजीव और स्वाभाविक रूप देना कवि का पहला काम है। कवि की वाणी लोक-जीवन का उद्गार है। कवि की कला लोक-हृदय का निश्वास है। कवि की कल्पना लोक-भावना का स्वप्न है। तभी तो काव्य, जीवन, लोक-जीवन का व्याख्यान कहलाता है। कवि के कंठ से लोक-जीवन की रागिनी फूटती है। यह रागिनी, यह भावना, यह कला सभी महाकवियों की कृतियों में पाई जाती है। यह आत्मीयता ही मानव-हृदय को चिरकाल तक कवि के उद्गारों में निमज्जित रखती है। मानव-हृदय की शाश्वत वृत्तियों में झंकृति उत्पन्न करके उन्हें एक तान और एक लय से बज उठने की प्रेरणा देकर कवि अपने कर्तव्य को पूरा कर देता है। उस संगीत से फिर लोक-जीवन का सीधा सम्बन्ध हो जाता है। इसी कारण समय की कसौटी पर वही खरा उतरता है जो यथार्थ कवित्व को अपना कर चलता है। जो जीवन की गहराइयों में झाँकता है और उसकी अमराई की मधुर झाँकी प्रस्तुत करता है।

सूक्तियाँ और अलंकार-योजना स्वयं काव्य नहीं है। न छन्द शास्त्र का विस्तृत ज्ञान काव्य है! पांडित्य भी काव्य नहीं है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना भी वर्णन की तीन शैलियाँ हैं, कवित्व नही। इन सबका अपना-अपना महत्व है। काव्य इनके सहयोग और साहचर्य्य मे धन्य होता है। केशवदास के कवित्व पर विचार करते समय हम उनमें उपरोक्त सभी गुण प्रचुर मात्रा मे पाते है, पर वही कम पाते हैं जिससे उनमे कवित्व प्रमुख हो उठे। सूर या तुलसी की भाँति उनकी कृतियो मे भावो और विचारो की वह तल्लीनता और तन्मयता नही है। वे सच्चे कलाकार की भाँति अपनी कला मे एक प्राण हुए नही दिखाई देते है। कलाकार और कला मे अस्तित्व का अलगाव कलाकार की विफलता सूचित करते है।

जिस राम-कथा को दो छन्दो मे लिख कर तुलसी अमर हो गये हैं। उसी को अनेक छन्दो मे, एव अनेक अलकारो से अलकृत करके भी केशव उतनी हृदयग्राहिणी न बना सके। तुलसी कवि की भाँति स्वछन्द और 'स्वान्तः सुखाय' लिखने मे प्रवृत्त हुए थे। महाकवि के आसन पर तो लोगो ने उन्हे अपने हाथों से बिठाया। केशवदास ने साहित्यशास्त्र के अनुसार अपने काव्य को महाकाव्य का रूप प्रदान किया। काव्य आरम्भ करने से पूर्व ही वे महाकवि का स्वप्न देख रहे थे। पर उनका अभिषेक शायद न हो पाया। वे महाकाव्य' लिखकर भी आचार्य के पद को ही सुशोभित कर सके। सूक्तियो और अलंकारो के उस सम्राट के पास शक्ति-सामर्थ्य सब कुछ थी, पर हृदय-वेदना की मधुर रस-धारा न थी। उन्होंने अधिकतर हमे चमत्कृत किया है, अभिभूत किया है, रिझाया है,

पर रुलाया, तड़पाया औ रस-मग्न बहुत कम किया है। शब्द और अर्थ की खिलवाड़ मे उन्होने काव्य के केवल बाह्य कलेवर का स्पर्श किया है। उनकी 'रामचन्द्रिका' मे और उनकी 'कविप्रिया' एवं 'रसिक प्रिया' मे भी उनका बहिरंग ही प्रदर्शित हुआ है। शायद राजदरबार की भीड़भाड़ मे अन्तरंग की ओर उन्मुख होने की उन्हे प्रेरणा ही नही हो पाई। उन्होने कही भी हृदय का मस्ती को छन्दो की रागिनी मे नही गाया।

इतना होने पर भी आश्चर्य है कि सदा से वे बड़े-बड़े कवियो के साथ याद किये जाते रहे हैं। हिन्दी के पंचरत्नो मे भी केशव मिल जाते है और नवरत्नो मे भी। सूर और तुलसी के साथ भी उनका नाम लिया जाता है। उसका कारण सम्भवत: यही है कि वे पाठक को अपनी विद्वत्ता से अभिभूत कर लेते है। कवित्व की कमी को अनुभव करने से पहले ही उनकी विद्वत्ता की छाप पड़ जाती है। दूसर वे रीतिकाल के प्रतिष्ठापक है। सूर और तुलसी को भी इतने अनुयायियो का सौभाग्य न मिला जितना केशव को। कबीर, सूर और तुलसी आदि की कला अध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर चित्रित है। उसमे वासनात्मक भावावेश को कम स्थान है। केशव के यहाँ विशुद्ध सांसारिकता का साम्राज्य है। वे प्रेम और सौंदर्य को मांसल बनाकर दिखाते हैं। उनका काव्य लौकिक-जीवन का अलकृत चित्र हैं, और एन्द्रियता के भावो से ओतप्रोत, पर भाषा की दूरूह घाटी मे उनके काव्य का यह रूप भी सार्वजनीन नहीं होने पाया। केवल कवि ही उससे अनुप्राणित हुए साधारण लोग नही। तीसरा एक और बड़ा कारण है जिसने केशव के भक्तो और अनु-यायियों की संख्या को कम नहीं होने दिया। वह है कविता-द्वारा

अर्जित उनकी अतुल विभूति। केशव का अनुकरण करके बहुत से कवि अपने अपने आश्रयदाता को इन्द्रजीत की भाँति रिझाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त सामाजिक और राजनैतिक पतन काल मे कुछ समय का भी यही तकाज़ा था कि लोग केशव का अधिक अनुसरण करते। एन्द्रियता को तुष्ट करने वाली, विलासी राजा और रईसो को प्रसन्न करने वाली मादक कला ने ही कवियो को विशेष आकर्षित किया, क्योकि उसके द्वारा उनका जीवन-यात्रा सरल होती थी। त्याग और भक्ति का पथ उतना आशु-फलदायी न था। कुछ भी हो, केशव, भाग्यशाली अवश्य थे। अनुकूल परिस्थितियों ने उनके यश-विस्तार मे बहुत योग दिया। आज भी उनकी ख्याति के कारण उन्हे महाकवियो के साथ एक पक्ति मे न गिनते हुए लोग हिचकते हैं। किन्तु वस्तुतः वे रससिद्ध कवीश्वर नहीं हैं यद्यपि वे और बहुत कुछ हैं।

मियाँ रसखान

कहा जाता है कि मियाँ रसखान मुसलमान से हिन्दू हो गये थे। आलम की भाँति ही वे भी मनचले जीव थे। प्रेम के आसव मे छके हुए रसखान के हृदय को रस मे आकंठ-स्नान की आकांक्षा थी। यही आकांक्षा उन्हे ब्रज की गलियो मे खीच लाई। सांसारिक प्रेम की वारुणी का प्रवाह भक्तिपूत होकर सात्विक अनुराग मे परिणत होगया। यह प्रेम का नशा ही था जिसने उनके हृदय को और उनकी वाणी को भी ऐसा बदल दिया कि उनमे कहीं भी हमे अवैष्णव के दर्शन नहीं होते। ब्रज के कोकिलो मे रसखान का नाम बड़े आदर से लिया जाता है वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

रसखान के सांसारिक प्रेम की चरचा मे कई बाते प्रचलित हैं। उनके सत्यासत्य का विवेचन इस संक्षिप्त लेख का उद्देश्य नहीं है, तो भी उनकी वाणी के मादक प्रभाव से यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है, कि उनके हृदय ने कही गहरी छानी थी। रूप की चोट से उनका रोम-रोम कहीं अवश्य बिंधा था। प्रेम की कसक को यौवन के वसन्तोत्सव में ही वे कही से पागये थे और वह उनके तरल स्वभाव के इतने अनुकूल पडी कि फिर उसे वे कभी छोड़ न सके। लौकिक प्रेमानुभूति उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष मे उसी भाँति सहायक हुई, जिस भाँति कि सूर और तुलसी के संबन्ध मे हुई बताते है।

इस प्रकार प्रेम-मार्गी रसखान का जीवन ही कवित्वमय है। उन्होने छन्दों के बँधे-बँधाए पात्रो मे बड़ी अलमस्ती से अपने हृदय

का रस निचोडा है। उनकी वाणी में जैसा अबाध प्रवाह है, उनके प्रेम मे जैसी अनन्यता है उनकी प्रतिभा मे वैसा ही चमत्कार है। केशव की भाँति भावुकता शून्य आलकारिक-बंधान बाँधने मे उनकी प्रवृत्ति बिलकुल नही लगती है। रसखान के यहाँ तो सब कुछ प्रेम ही प्रेम और रस ही रस है। एकान्त और अनन्य प्रेम के पुजारी रसखान ने मानव-हृदय की हिलोरों को अपनी कविता मे लहराया है। उनकी वाणी मे मानव-हृदय की शाश्वत अनुभूतियाँ हिमालय के बर्फ की तरह गलगल कर बह रही है जिनसे लोक-जीवन और लोक-हृदय निरन्तर रस-सिंचित हो रहा है। अबतक उस पवित्र मन्दाकिनी के सुनिर्मल प्रवाह मे कितना जगत अवगाहन कर चुका है! पर आज भी उसकी माधुरी वैसी ही बनी हुई है। अनेक बार गा-सुनकर भी जिह्वा और कान क्या कभी तृप्त हुए है, क्या वे इसे फिर गाना और सुनना नही चाहते?

या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख
नन्द की गाय चराय बिसारौं।
'रसखानि' कबौ इन आँखिन सों
ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम
करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।

यही कुंज, और यही बंशीवट 'रसखान' की आँखों में निरन्तर छाये रहते थे। जहाँ गोपियो और राधा के साथ नटनागर कृष्ण ने रास-क्रीड़ा की थी, जहाँ तमाल और कदंब के नीचे बैठ कर

उन्होंने बाँसुरी में प्रेम का जादू फूँका था, रसखान उन्हीं गलियो के फकीर हो गये थे। प्रेम के उसी आदर्श को, भक्ति की उसी तल्लीनता को, जिसमें शरीर और चेतना शिथिल और विसुध हो जाते हैं, रसखान ने अपने जीवन मे सिद्ध कर लिया था। कवि और पागल मे इतना ही अन्तर है कि पागल किसी अकल्पित उद्देश्य के लिये अथवा उद्देश्य-विहीन भी मतवाला रहता है, परन्तु कवि अपनी कल्पना और अपने आदर्श के लिए पागल रहता है। उनकी इसी मादकता पर रीझ कर नाभादास जी ने कहा था, 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।'

जीवन-सघर्ष मे पिस रहे मानव के लिये कवियो के उद्गार संजीवनी-बूटी का काम देते हैं। काव्य-कला मे सौंदर्य के साथ यह एक बड़ी महत्व पूर्ण उपयोगिता भी है। व्यस्त, परास्त और शिथिल जीवन मे मस्ती और प्राणो का संचार करके उसे आगामी काल के संघर्ष के लिये तैयार करने मे कवि और कलाकारों का बड़ा हाथ है। काव्य और साहित्य का जीवन मे इतना महत्वपूर्ण स्थान इसीलिए है। कविवर रसखान की काव्यकला मे, विशुद्ध कला की दृष्टि से, जीवन मे सजीव तत्वों को उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति है। शुष्क-कठोर पाषाणखंडो को गला कर तरल-सरल वारिधारा में प्रवाहित करने की प्रतिभा उनकी वाणी मे प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। इसका प्रमाण लोक-हृदय और लोक जीवन है, जहाँ इस रस-सिद्ध कवीश्वर का नियमित कीर्तन किया जाता है। ऐसा कौन भावुक है जो रसखान को न जानता हो! और ऐसा कौन अरसिक है जो एक बार सुनकर भी इसे भूल सके—

मानुस हौं तौ वही रसखान,
बसौं ब्रजगोकुल गॉव के ग्वारन।
जो पसु हौ तौ कहा बस मेरो,
चरौ तित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को
जो धरयो कर छत्र पुरदर धारन।
जो खग हौ तौ बसेरो करौ
नित कालिदी-कूल कदंबकी डारन।

× × ×

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौ,
गुज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढि पितम्बर लै लकुटी बन
गोधन ग्वारन सग फिरौगी।
भावतो वोहि मेरो रसखान सो
तेरे कहे सब स्वाग भरौगी।
या मुरली मुरलीधर की
अधरान धरी अधरान धरौगी।

'रसखान' के आत्मनिवेदन मे जीवन की व्यापक अनुभूति को स्थान नही है। उनका क्षेत्र परिमित है। जवानी की उमंगो से भरी हृदय-माधुरी को भक्ति के रास्ते पर लग कर उन्होंने अपने जीवन और अपनी कला को धन्य कर लिया है, अन्य क्षेत्रों मे झांकने का अवकाश उन्हे मिल ही न पाया। अवस्था की परिणति के साथ मनुष्य मे जो गम्भीर विचारणा उद्‌बुद्ध हो उठती है उ से पहले ही रसखान ने प्रेम और भक्ति दोनो का स्वाद ले

लिया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। सैद्धान्तिक भक्ति का निरूपण यदि उन्होंने कहीं किया भी है तो वह सामयिक अनुरोधवश। हाँ, 'प्रेमवाटिका' में प्रेम-सम्बन्धी उनकी धारणाओं और उनके विचारों का विशद और क्रमबद्ध उल्लेख है, अतः उनके चिन्तन औ निरूपण का विषय प्रेम ही बन सका है। यह प्रेम राधाकृष्ण परक होने से भक्तिपूत और सात्विक अवश्य हो गया है पर सांसारिकता एव वासना से सर्वांशतः विमुक्त नही हो पाया है। जिस ससा में डूबकर कवि ने जीवन में 'प्रेम' जैसे अनुपम पदार्थ की उपलब्धि की थी, जो आगे चलकर उसे राधाकृष्ण के प्रेम (भक्ति) की ओर ले गया और उसे आध्यात्मिक उपलब्धि मे लगाया उसके विषय में वह उदासीन क्योंकर हो सकता है ? इसलिए कविवर रसखान वस्तुत प्रेम के कवि है यही मानकर चलना उचित है।

महाकवि देव

हिन्दी के शृंगारी कवियो मे महाकवि देव का आसन कई दृष्टियों से बहुत ऊँचा है। उनमे सच्चे कवि की प्रतिभा के साथ साथ ऊंचे दर्जे की विद्वत्ता भी है। उनका क्षेत्र भी अन्य शृंगारी कवियो की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उन्होंने आलंकारिक शैली को अपना कर भी जीवन की व्याख्या की ओर अपना दृष्टि रक्खी है। उनके काव्य मे जीवन के व्यापक चित्र की ओर प्रयास है। गहन-गूढ शास्त्रीय तत्व-ज्ञान मे उनकी पैठ है। सामाजिक वर्गवाद का उन्हे ज्ञान हैं। रूढ़ियों और रीतियो की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। मानव-जीवन और मानस-शास्त्र की बारीकियों को वे समझते हैं। अनेक ग्रन्थो का अध्ययन करके उन्होंने अपनी सर्वतो-मुखी प्रतिभा का अच्छा प्रमाण दिया है। इस सब के होते हुए भी उनका कवि प्रमुख है। इसी कवि की प्रमुखता के कारण वे कुछ दुरूह होते हुए भी हिन्दी के कलाकारो मे अग्रगण्य है? उनकी भाषा म सर्वत्र सुकोमल मृदुता नहीं है। गहन-गम्भीर विचारो और भावो क अनुकूल उनकी भाषा भी यथास्थल वैसी ही पांडित्य पूर्ण मन्द्र-घन-गर्जन से युक्त है। उनके काव्य मे ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जहाँ भाषा का साफ़-सुथरा और प्रसादगुण युक्त रूप मिलत है। केवल विचारो और भाषा की गम्भीरता ही इनकी विशेषता नही है, वरन अनुभूति और भावावेश मे भी ये दूसरे विद्वानो से एक पग पीछे नहीं हैं। राधाकृष्ण को उपलक्ष मानकर

इन्होने दाम्पत्य-प्रेम और विरह का जैसा वर्णन किया है, वह अपूर्व है। उसे पढ़ने से इनके हृदय की तल्लीनता और रसिकता का पता लगता है।

प्रेममार्गी आलंकारिक कवियो की भक्ति मे सांसारिक प्रेम की मूर्ति की ही प्रतिष्ठा हुई है। भक्ति का केवल एक झीना आवरण डाल कर अध्यात्मवाद का आडम्बर किया है। कविवर देव भी इसके अपवाद नहीं है। किन्तु स्वाभाविक गम्भीरता ने उन्हे सांसारिक असारता का भान भी कराया है। जीवन भर शृंगार और प्रेम मे डूब कर, अन्ततः उन्हे पश्चाताप करते देख, पाठक को उनकी मनोदशा में जगत् की असारता की छाया मिलती है, और प्रतीत होता है कि उन्होने जीवन के परिणाम को भी उसी तन्यमयता से अनुभव किया है।

ऐसो जो हौ जानतो कि जैहै तू बिपय के संग,
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाही सुनी,
नेह सो निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
मारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सो बाँधि,
राधावर-विरुद के वारिधि मे बोरतो।

× × ×

गुरुजन जावन मिल्यो न भयो दृढ दधि,
मथ्यो न बिबेक-रई 'देव' जों बनायगो।
माखन मुकुति कहाँ छाँड्यो न भुगुति जहाँ,
नेह-बिनु सिगरो सवाद खेद नायगो।

के अत्यन्त सरस चित्र खीचे हैं, परन्तु उन चित्रों में जैसे उनका अध्यात्म बोल रहा है। वासना की गंध उनमे नहीं है।

इससे यह तात्पर्य नहीं है कि आध्यात्मक भावना के ओत-प्रोत होने से ही कविता का उत्कर्ष-साधन होता है, लौकिक भवनाएँ इसके पद को गिरा देती हैं। जीवन मे तो लौकिक और आध्यात्मिक दोनो को स्थान है, और लोक-जोवन तो लौकिक को लेकर ही बना है। उसे बनाये रखने के लिए तो उसी का विशेष प्रयोजन है। आध्यात्मिक उत्कर्ष व्यक्ति-गत साधना है। लौकिक समष्टि और व्यष्टि दोनो को लेकर चलता है। इसलिए काव्य लौकिक भावनाओ के व्याख्यान मे प्रवृत्त हो तो अच्छा ही है। ऐसा होने पर ही उसे कला का रम्य रूप प्राप्त होना है। किन्तु वे लौकिक भावनाएँ जीवन को उठाने मे सहायक होनी चाहिए। हमारे शृंगारी कवियो ने काव्य को लौकिक भावनाओं से तो खूब सजाया है, पर जीवन की गतिशीलता पर वे विषम परिस्थितियो के कारण, विशेष ध्यान न देने पाये। फलत. उनकी कला चारुदर्शन होते हुए भी जीवन फूँकने वाली न हुई।

कविवर देव को ही ले तो हम देखेगे कि उन्होंने मानव-जीवन और मानव-हृदय के कोमल से कोमल भावो को कैसी मार्मिकता से व्यक्त किया है। उन्हे मनुष्य-स्वभाव का कैसा अपूर्व अनुभव था! अमूर्त भावो की मूर्ति खड़ी कर देने मे उनकी प्रतिभा का कौशल दर्शनीय है।

जब ते कुँवर कान्ह रावरी कला-निधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।

तब ही ते 'देव' देखी देवता सी हँसति सी।
रीझति-सी खीझति-सी रूठति रिसानी सी।
छोही-सी छली-सी छीन लीनी-सी छकी सी छिन
जकी-सी टकी-सी लगी थकी थहरानी सी।
बीधी सी बँधी-सी विष-बूडति बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति विलोकति बिकानी-सी।

किंतु इन लौकिक भावनाओं की पृष्ठ-भूमि ऐसी नहीं है जो सामूहिक जीवन में क्रांति को पल्लवित करके एक नवीन संसार को उत्पन्न कर दे। देव की मौलिक प्रतिभा भी अपने समय के वातावरण के साथ बँधी है। उससे विद्रोह करके चलने के संस्कार उसमें नहीं हैं। यदि ये भी हो सकते तो देव कवियों के सम्राट होते। चित्राकरण में देव, देव ही हैं। क्या भाव, क्या घटना, क्या क्रिया, सभी के सांगोपांग और सुन्दर चित्र उन्होंने अपने शब्दों में खींचे हैं। रूप-वर्णन और प्रकृति-वर्णन भी उनका अपना अनोखा है। विहारी, मतिराम और पद्माकर से देव की शैली भिन्न है। उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व की छाप लगी हुई होती है।

रूप-वर्णन

माखन-सो मन, दूध सो जोवन
है दधि ते अधिकै उर ईठी।
जा छवि आगे छपाकर छाछ
समेत-सुधा वसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै 'कवि देव'
बुझावति बैन वियोग अँगीठी।

ऐसी रसीली अहीरी अहौ
कहौ क्यो न लगै मनमोहनै मीठी ।

दृश्य-चित्रण

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया ।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो देव
छहर छहर छोटी बूँदनि छहरिया ।
हहर-हहर हँसि हँसि कै हिंडोरे चढ़ी,
थहर-थहर तन कोमल थहरिया ।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होति प्यारी की लहरिया ।

भावावेश का चित्र

हौं ही ब्रज, वृन्दावन मोही में बसत सदा
जमुना-तरंग श्यामरंग-अवलीन की ।
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत
कुञ्जन में सुनियति गुंजनि अलीन की ।
बंशीवट तट नटनागर नटतु मो में,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की ।
भरि रही भनक बनक ताल-ताननि की,
तनक तनक तामें झनक चुरीन की ।

देव का प्रेम-निवेदन भी अत्यन्त मार्मिक और मनोवैज्ञानिक है । यों तो देव सर्वत्र प्रसाद-गुण-पूर्ण नहीं है, पर जहां उन्होंने हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का व्यक्त किया है, वहाँ वे अत्यन्त

हृदयग्राही होगये हैं। उनकी वाणी सरल-सरल [illegible] ढली है। भाषा को बनाने की ओर उनका जरा भी प्रयास नहीं है, वह तो स्वयं ही उनकी वाणी का अनुसरण करती हुई प्रवाहित है।

चोट लगी इन नैननि की दिन हूँ
इन खोरिन सों कढती हौ।
देखन मे मन मोहि लियो छिपि
ओट झरोखन के झँकती हौ।
'देव' कहै तुम हौ कपटी
तिरछी अँखियाँ करिकै तकती हौ।
जानि परै न कछू मनकी
मिलि हौ कबहूँ कि हमै ठगती हौ ?

केवल रूप और प्रेम मे ही नही, उनकी वाणी का यही धारा-प्रवाह दूसरी ओर भी है। ससार की असारता भी वे उसी गति से गाते है। जीवन की निरीहावस्था का चित्र खीचते हुये वे संसार और जीव जैसे चिन्तन-सापेक्ष्य विषय को 'मोम के मन्दिर' और 'मक्खन के मुनि' की उपमा देकर बड़ी आसानी से अपनी अनुभूति को व्यक्त कर देते है।

बागो बनो जरपोस को ता महि
ओस को हार तन्यो मकरी ने।
पानी मे पाहन पोत चल्यो चढि
कागद की छतुरी सर दीने।

काँख मे चाँपि कै पाँख पतग के
'देव' दुसग पतग को लीने ।
मोम के मन्दिर माखन के छिनि
बैठे हुतासन आसन कीने ।

इस प्रकार कविवर देवदत्त ईर्ष्या के योग्य प्रतिभा लेकर पैदा हुये थे। यदि वे रीतिकाल मे न होकर किसी अन्य काल में हुए होते तो उनका काव्य जीवन के अधिक समीप होता, प्रिया-प्रियतम के हास-रास मे ही निमग्न न रहता। रीति-कालीन कवियो मे तो वे निश्चय ही आदरणीय स्थान के अधिकारी हैं।

मैथिल कोकिल का वाणी-विलास

कविवर विद्यापति भाषा के 'जयदेव' कहे गये हैं। इसीसे प्रकट है कि उनकी वाणी का माधुर्य अपार है, उन्होंने जीवन मे मधुर रागिनी की ऐसी गूँज भर दी है, जिससे अन्तरग और बहिरङ्ग सभी कुछ शर्बती बन गया है। शब्दों की ऐसी सुललित योजना एवं सगीत के स्वरो मे बँधी हुई कठ-ध्वनि और किसी दिशा से आती हुई सुनाई नही पड़ती। यही क्यो, उनकी सुललित शब्द-योजना और मधुर मादक वशी-ध्वनि भावो से अतिशय स्निग्ध हो रही है। इन्ही विशेषताओं के कारण लोकमत ने एक स्वर मे उन्हे मैथिल-कोकिल की उपाधि से विभूषित किया है। मैथिल जीवन की सम्पूर्ण सरसता से उनकी काकली रसवती हो रही है। कई सौ वर्ष के बाद आज भी मैथिल-प्रदेश का समस्त वातावरण इस महाकवि के गीतो मे गुनगुनाता है, और उसी की भाव-धारा मे तल्लीन हो रहा है। एक भक्ति के उद्रेक से विह्वल हो रहा है तो दूसरा दाम्पत्य प्रेम की सुधा मे निमज्जित हुआ जाता है। तीनो प्रधान रसो, शृगार, वीर और शान्त, मे विद्यापति के काव्य का उत्कर्ष देखा जाता है, तो भी उनका शृंगारिक गीति-काव्य प्रधान है। जिस प्रकार मानव-जीवन शृंगार-प्रधान है, उसी प्रकार विद्यापति का काव्य भी। वह मानो जीवन—लौकिक जीवन का सगीत और भावमय पहलू है।

आध्यात्मिक उत्कर्ष मे महात्मा कबीर इतनी ऊँचाई पर पहुँच गये थे कि तत्कालीन दोनो विरोधी जातियाँ, हिंदू और

मुसलमान, उन्हें अपने अपने मत का मानने लग गई थी। इसी प्रकार बल्कि इससे भी अधिक लोक-जीवन को आकर्षित करने में विद्यापति की वाणी सफल हुई थी। काव्य-कला, संगीतमयता एवं रसानुभूति में विद्यापति इतने बढ़े-चढ़े थे, उनके पदों का इतना आदर था कि उनके बाद बहुत समय तक यही निर्णय नहीं हो सका कि वे हिंदी, बंगला और मैथिली में से किस भाषा के कवि थे? बंगाली इन्हें बंगला का कवि कहते और हिन्दुस्तानी हिन्दी का। मैथिल भी अपने कवि को छोड़ने को तैयार न थे। इसके अतिरिक्त विद्यापति के पदों की भाषा को भी लोगों ने जहाँ तहाँ स्थानीय रंग में रँगने का व्यर्थ प्रयास किया है। विद्यापति की मौलिक शैली को कोई क्या रँग सकेगा? वस्तुत. ऐसे समस्त प्रयत्न असार सिद्ध हुए हैं। जो भी हो, पर इससे इतना तो स्पष्ट है कि वे सदा से लोक-विश्रुत कवि के रूप में माने जाते रहे हैं।

ऐसे ख्यात-नाम कवि की कीर्ति को नकल द्वारा अथवा उसी नाम से काव्य-रचना करके भी लोगों ने आत्मसात करने का यत्न किया है परन्तु विद्यापति के काव्य में उनके व्यक्तित्व की जो छाप लगी हुई है वह उन्हें सदा सबसे पृथक कर देती है। उनकी वाणी में जो विशेषता है वह विदग्ध पाठकों को अनायास ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार विद्यापति काव्य-कला की जिस भूमि पर विचरते हैं वह सबके लिए अगम्य रही है। 'श्री बेनीपुरी जी' ने ठीक ही लिखा है कि 'जिस प्रकार हजारों पक्षियों के कलरव को चीरती हुई, कोकिल की काकली, आकाश-पाताल को रसप्लावित करती, सब से अलग अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रगट करती है, उसी प्रकार विद्यापति की कविता भी अपना परिचय आप देती है'

उनकी भाषा और उनके भाव तो अपने हैं ही, वे अपने ही ढंग से व्यक्त होने के कारण सरलता से अनुकरण करने योग्य नहीं है।

विद्यापति के काव्य को जब एक बार हम पढ़ने लगते हैं तो उनकी सरसता मे अपने आपको डुबा देते है। उनकी शब्द-साधना और स्वर-साधना पर मुग्ध हो उठते हैं। यही कारण है कि लोक-हृदय से लेकर पंडित-मण्डली तक वे उसी रुचि के साथ पढ़े जाते हैं। सबके हृदय को उनका कोकिल-कण्ठ विमोहित कर लेता है। यदि काव्योचित गुणो का विवेचन करके उनकी रचनाओ को देखे तो उनमे निम्न-लिखित विशेषताएँ प्रचुर मात्रा मे मिलती हैं।

१—शब्द-चित्रो मे भावों और दृश्यों को सजीव रूप में झलका देना।

२—सङ्गीतमयता।

३—कोमल कांत पद्मावली।

४—सरस भावुकता।

५—मनोविश्लेपण।

भाव और दृश्यो के अनेक सुन्दर चित्र विद्यापति के पदों मे उसी भाँति फैले हुये है जैसे अमावस की काली रजनी के अंचल मे जगमगाते हुये असंख्य तारागण। उन्हे खोजने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। वे पाठक की दृष्टि मे स्वतः चकाचौंध लगा देते हैं। देखिये—

लोचन—नीर तटिनि निरमाने।
करएकलामुखि तथिहि सनाने।

'पदावली'

(आँखों के आँसुओं मे नदी का निर्माण करके विरहिणी चन्द्रमुखी उसी में स्नान करती है) विरहिणी की सम्पूर्ण-दशा का दो पंक्तियों मे कैसा मार्मिक चित्र है !

× × ×

सखि हे हमर दुखक नहि ओर
इभर बादर माह भादर
सून मन्दिर मोर ।

'पदावली'

यहाँ शब्दों के उच्चारण में ही जीवन और प्रकृति के दो विषम चित्र अपने-अपने कण्ठ से बोल रहे है । बादल की सघन-गम्भीरता और मन्दिर का सूनापन एवं उसमे हृदय की निरीहावस्था का कैसा विषादपूर्ण दृश्य अंकित है ।

ससन-परस खसु अम्बर रे
देखल धनि देह ।
नव जलधर—तर सचर रे ।
जनि बिजुरी रेह ।

'पदावली'

दृश्यो की ऐसी तस्वीरो से पदावली भरी पड़ी है । चल चित्रो की यह महिमा और कहाँ है ? इस प्रकार के चित्रों से प्रतीत होता है कि विद्यापति की दृष्टि प्रकृति के परिवर्तन और उसकी छटा को कैसी बारीकी से देखती थी । उपमान के रूप मे हम प्रकृति को तभी ग्रहण करते हैं जब उसमे भाव या रूप-सादृश्य का अनुभव करते है । वर्ण्य विषय के प्रति अपने मनोभावो की व्यजना हम उपमानों के द्वारा करते हैं । उपमानों के चुनाव, और उनके द्वारा भावो

की व्यंजना में कवि के कौशल की परख होती है। विद्यापति की रचनाओं से इस बात का पता लगता है कि वे कैसे कुशल कलाकार हैं।

संगीत उनकी रचनाओं की एक मादक विशेषता है। इनके पदों की संगीतमयता को देखते हुए प्रतीत होता है कि वे इस कला के मर्मज्ञ थे। बिना उसके मर्म को जाने सङ्गीत-जैसी ललितकला मे विदग्धता प्रदर्शिक करना कैसे सम्भव हो सकता है ? जो लोग सङ्गीत के ताल-सुर से पूरी तरह परिचित नही है, और उसके उतार-चढ़ाव का पूरा ज्ञान नहीं रखते, केवल अक्षरो और मात्राओं के आधार पर विद्यापति के पदो की परीक्षा करते हैं वे उनमे कहीं-कहीं छन्दोभङ्ग समझ लेते है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। उनके पद सङ्गीत के सुरों मे बँधे हुए हैं।

विद्यापति की कोमल-कांत पदावली ने, जिसके लिए वे अत्यन्त प्रसिद्ध है, इस संगीत में मिश्री घोल दी है। भाषा के माधुर्य्य ने सङ्गीत की कोमलता को और भी अधिक गला दिया है। कही से कोई भी पद ले लीजिये शब्द-योजना जुही के फूलों की तरह सुकुमार और दर्शनीय है। इस मे सन्देह नहीं कि जिस भाषा मे कवि ने अपने मधुर पदों की रचना की है, वह उस कोटि की भाषा है जिसमे माधुर्य्य विशेष है। विद्यापति ने उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया है, इसी मे उनकी विशेषता है। श्रुत्यनुप्रास का ऐसा सुन्दर प्रसार उनकी वाणी मे है कि सुनकर हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। उनके कंठ ने सङ्गीत को अमृतमय कर दिया है। उनके काव्य के आलाप में कोकिल की काकली का आभास

मिलता है। उनकी कोमलकान्त-पदावली का ज्ञान कराने के लिये दो-एक पद उद्धृत किये जाते हैं:—

नन्दक नन्दन कदम्ब क तरु-तर
धिरे धिरे मुरली बजाव ।
समय सँकेत-निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव ।
सामरि, तोरा लागि
अनुखन विकल मुरारि ।
जमुना क तिर उपवन उदवेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि ।
गोरस बेचए अबइत जाइत
जनि जनि पुछ बनमारि ।
तोहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन
बचन सुनह किछु मोरा ।
भनइ बिद्यापति सुन बरजौवति
बन्दह नन्द किशोरा ।

× × ×

कनक-लता अरविन्दा ।
दमना माँझ उगल जनि चन्दा ।
केहु कहे सैबल छपला ।
केहु बोले नहिं नहि मेघे झपला ।
केहु कहे भमए भमरा ।
केहु बोले नहिं नहिं चरए चकोरा ।

ससय परल सब देखी ।
केहु बोलए ताहि जुगुति बिसेखी ।
भनइ विद्यापति गावे ।
बड़ पुन गुन मति पुनमत पावे ।

संगीत विद्यापति के पदो का प्राण है । कोमल-मधुर शब्दावली सुन्दर-सुदर्शन शरीर है । इन मे कवि की रसज्ञता आत्मा की तरह रम रही है । इस रसज्ञता ने, इस सरस भावुकता ने, उनकी वाणी को सुधासिक्त करके अमर कर दिया है । इसी मादक अनुभूति के बल पर वे अपने सगीत और अपनी कर्ण-मधुर पद-योजना को सार्थक कर सके है । जीवन की रसवती पयस्विनी को वे जिन गलियो से बहा कर ले चले हैं, वहाॅ का सभी कुछ वासन्ती आभा से खिल उठा है। राधाकृष्ण को उपलक्ष्य मान कर जीवन का समस्त शृंगार और प्रेम उद्वेगपूर्ण कण्ठ से उन्होने इस तल्लीनता से गाया कि सारा वातावरण उसकी बंशी-ध्वनि से गूँज उठा। लोक-जीवन की तन्त्री के तार एकाएक झनझना उठे । कवि-कोकिलो के अवरुद्ध कण्ठ सुरीले होगये, और उनके विमूर्छित मन-मयूर नाचने लगे । जीवन मे सरसता का संचार हुआ । उदासी और अवसाद की जो एक घन-घटा घिर रही थी वह दूर हुई । वसन्त-समीरण का मधु-मादक झोका आया, जिससे सभी कुछ जीवन मय और प्राणमय हो उठा ।

इसी भावुकता के कारण विद्यापति के सम्बन्ध मे श्रीयुत बेनीपुरी ने लिखा है, "हिन्दी कवियों ने विरह के नाम पर, हाय-हाय का ही बवंडर उठाया है--उनके विरह-वर्णन मे, घनानन्द आदि दो-चार को छोड कर हृदय-वेदना का सूक्ष्म विश्लेषण प्राय

नहीं देखा जाता। विद्यापति का विरह-वर्णन प्रेमिका के हृदय की तस्वीर है--उसमे वेदना है। व्याकुलता है। प्रियतम के प्रति तल्लीनता है।" यही क्यों उनके मिलन और प्रेम-निवेदन आदि मे भी वही तन्मयता है। देखिये--

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना।
चहुँ दिस सखि सब कर धर ना।
जाइतउ लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।
जाइतइ हार टुटिए गेल ना।
भूखन बसन मलिन भेल ना।
रोए रोए काजर दहाए देल ना।
अदकँहि सिंदुर मिटाए देलना।
भनहि विद्यापति गाओल ना।
दुख सहि सहि सुख पाओल ना।

× × ×

कर धरु करु मोहि पारे।
देब मै अपरुब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि गेलि।
न जानू कोन पथ भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुअपासे।

जाएब औघट घाटे, कन्हैया ।
विद्यापति एहो भाने ।
गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया ।

विद्यापति के काव्य मे उपरोक्त विशेषताओ के अतिरिक्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण खूब है । बडी बारीकी और सावधानी से मनुष्य की मनोदशा का चित्रण किया गया है । मानव जीवन के अन्तर्दर्शन बिना इस प्रकार की अनुभूतियो को सङ्गीत और काव्य का विषय बना लेना सहज नहीं है । कवि की अन्य खूबियो की भाँति जब हम उसके मनोविश्लेषण को उसकी प्रतिभा के एक स्वाभाविक प्रकाश के रूप मे देखते है तो उसका काव्य हमारे निकट और भी मूल्यवान हो उठता है । शृङ्गार और प्रेम की दिशा मे विद्यापति ने परवर्ती कवियो के लिये बिजली का प्रकाश प्रस्तुत कर दिया है। उनकी काव्य-माधुरी की छाया छूने के लिए कवियो ने अनवरत प्रयास किया, परन्तु उनकी समस्त विशेषताओ का स्पर्श शायद कोई न कर सका। ब्रज के वैष्णव कवियो मे उनके चरण-चिन्हो का अनुसरण अवश्यमेव मिलता है। भक्ति की प्रेम-सञ्जीवनीने उनके रोम रोम मे जो आवेग भर दिया था, उसी को अपने काव्य मे उन्होने बहाया है । इसी उन्माद के कारण उनका काव्य इतना प्राणमय है । विद्यापति की काव्य-प्रतिभा भी भक्ति से अनुप्राणित है, पर उसमे वासनात्मक-प्रेम की प्रतिष्ठा ही मुख्य है । उनके काव्य मे मानव-प्रेम का ही व्याख्यान हुआ है । दरबारी-कवि होने के कारण पूत-पावन भक्ति का उद्रेक उनके काव्य का आधार नही है। फिर उन्होने स्पष्ट रूप से अपने पदो मे राजा शिवसिंघ और लखिमा देवी के केलि-विलास का उल्लेख करके अपनी अमरवाणी को नर-

काव्य से संलग्न कर दिया है। राधा-कृष्ण को तो सौंदर्य और प्रेम के प्रतीक-रूप में, जैसा कि पहले कहा कहा गया है, उन्होने स्वीकार भर कर लिया है; परन्तु तो भी भाव-तल्लीनता के आधिक्य के कारण उनकी वाणी मे इतना प्रभाव और इतना आकर्षण है। देखिए--

पथ--गति नयन मिलल राधा कान।
दुहु मन मनसिज पूरल सधान।
दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर।
समय न बूझए अचतुर चोर।
बिदगधि सगिनी सब रस जान।
कुटिल नयन कएलहि समधना॥
चलल राजपथ दुहु उरझाई।
कह कवि-सेखर दुहु चतुराई॥

कवि के निम्न पद मे उसकी शब्द-साधना, स्वर-साधना और अर्थ-सिद्धि के साथ उसकी दृश्य-चित्रण-पटुता पर ध्यान दीजिये।

बाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया।
नटति कलावति माति श्याम सग।
कर करताल प्रबन्धक ध्वनियाँ।
डम डम डफ डिमिक डिम मादल।
रुनु झुनु झुन मञ्जीर बोल।
किकिनि रनरनि, बलआ कनकनि
निधुबन रास तुमुल उतरोल।

बीन, रवाब, मुरज स्वरमण्डल
सा रि ग म प ध नि सा बहु विधि भाव।
घटिता घटिता धुनि मृदग गरजनि
चञ्चल स्वरमण्डल करु राव।
स्रम भर गलित लुलित कबरीयुत
मालति माल बिथारल मोति।
समय बसन्त रास-रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति।

अपनी प्रार्थनाश्रो और नचारियो मे तथा वीररस की कविता मे भी विद्यापति अपने स्वाभाविक ओज और गतिशीलता एवं तादात्म्यता को बनाये रखते है, इसीलिये भक्त उनके भक्ति के पदो को गाते गाते विह्वल हो उठते हैं। वीरो के भुजदण्ड उनकी वीर कविता-पाठ से फड़कने लगते है, दुर्गा की स्तुति मे उनकी भक्ति और वीरता दोनो की स्फूर्ति है—

कनक-भूधर-सिखर बासिनि
चन्द्रिका चय चारु हासिनि
दसन कोटि विकास, बंकिम
तुलित चन्द्रकले।

क्रुद्ध सुररिपु बल निपातिनि
महिष-शुम्भ-निशुम्भ-घातिनि
भीत-भक्त- भयापनोदन—
पाटल-प्रबले।

जय देवि दुर्गे दुरित तारिणि
दुर्ग मारि विमर्द हारिणि
भक्ति नम्र सुरासुराधिप—
मगलायतरे।
गगनमंडल गर्भगाहिनि
समर भूमिषु सिहवाहिनि
परसु-पाश-कृपाण--सायक
शख चक्रधे।
अष्ट भैरवि संग शालिनि
सुकर कृत्त कपाल कदम्ब मालिनि
दनुज शोणित पिशित वर्द्धित—
पारणा रभसे।
ससार बंध-निदान-मोचिनि
चन्द्र-भानु-कृशानु-लोचनि
योगिनीगण गीत शोभित
नृत्यभूमि रसे।
जगति पालन-जनन-मारण
रूप कार्य सहस्र कारण
हरि विरंचि महेश शेखर—
चुम्ब्यमान पदे।
सकल पापकला परिच्युत
सुकवि विद्यापति कृतस्तुति
तोषिते सिवसिंघ भूपति
कामना फलदे।

यों तो विद्यापति संस्कृत भाषा के विद्वान और लेखक थे। उनकी कतिपय रचनाएँ इस भाषा में हैं किन्तु उनकी पदावली में भाषा का स्थानीय 'मैथिली' रूप है। हाँ, उनकी प्रारम्भिक पुस्तक 'कीर्तिलता' की भाषा अपभ्रष्ट या अपभ्रंश है। भाषा की यह भिन्नता विषय की भिन्नता के कारण ही है, ऐसा कहा जा सकता है। 'कीर्तिलता' की भाषा भी एक ओजस्वी लेखिनी से निकली हुई प्रतीत होती है। देखिये—

तेजमन्त तरवाल तरुण तामस भरे वादल
सिन्धु पार संभूत तरणि रथ रहइ ते काढल।
गवण पवन पहुआव वेगे मानसहु जीति जा।
धाय धूप धसमसइ वज्ज जिमि गज्ज भूमिपा
सङ्गामभूमितल संचरइ नाच नचावहि विविह परि।
अरिराअन्द लच्छिअछोलि ले पूरआस असवार कइ।

× × × ×

वेवि सहोअर राअ गिरि लहिअउ वेवि तुरंग।
पास पसंसए सव्वजा दूर सत्तु ले भंग।
तेजी ताजी तुरअ चारि दिश चप्परि छुट्टइ।
तरुण तुरुक असवार वास जञे चावुक फुट्टइ।
मोजाञे मोञे जोलि तीर भरि तरकस चापे।
सीगिनि देइ कसीस गव्व कइ गरुञे दापे।

× × × ×

मत्त मगोल बोल णाहि वुज्झइ,
पुन्दकार कारण रण युज्झइ।

काच मास कबहु कर भोग्रण ।
कादम्बरि रसे लोहित लोग्रन ।
जोग्रन वीम दिनद्धे धावथि ।
बगलक रोटी दिवस गमावथि ।
वलके काटि कमानहि जोले ।
धार्जे चलथि गिरि उग्र घोरे ।
गो वम्भन वध दोष न मानथि ।
पर पुर नारि वन्द कए आनथि ।
हस हरपे रएड हसाइ जहि ।
तरुणे तुरुक वाचा सए सह सहि ।
अरु कत धाँगड़ देखिग्रथि जाइते,
गोरु मारि मिसमिल कए पाइते ।

अरु धागड़ कटकहि लटक वड़ जे दिस धाड़ जाथि ।
ते दिसि केरी राए घर तरुणी हट्ट विकाथि ।

अपभ्रंश भाषा मे ऐसी उत्कृष्ट रचना करके विद्यापति ने अपने को उस भाषा का कोविद सिद्ध कर दिया है। इस भाषा के इनके गद्य और पद्य की आवृत्ति से भाव और अर्थ की प्रतीति विषय के अनुरूप ही होती है, जो यह सूचित करती है कि शब्द-ध्वनि को भावार्थानुसारिणी बनाने मे कवि सदा प्रयत्नशील रहा है। उसकी संगीतमयता और वर्णमैत्री का यह एक बडा कारण रहा है। स्वभाव मधुर कोमल मैथिली-हिन्दी का आधार पाकर और राधा-कृष्ण के प्रेम जैसा सरस विषय मिल जाने से उनकी

वाणी और अधिक अमृतोपम हो उठी। इसी भाव-विह्वल अमृत-संगीत को चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति का पंचामृत बना लिया। कविवर विद्यापति के प्रेम-रस मे डूबे हुए पदो को गाते-गाते जब वे भावावेश में विसुध हो जाने लगे, तो प्रेम और वासना के इस कवि को भक्ति के क्षेत्र मे समादर प्राप्त हुआ। उसकी आत्मानुभूति लोकानुभूति से परे विश्वानुभूति के रंग मे रंगी देखी जाने लगी। इसी लहर ने, इसी दृष्टि-कोण ने, सूर जैसे प्रतिभाशाली सुकवि को विद्यापति का चिरऋणी बना दिया है। सूरदास ने विषय और शैली की छाया को विद्यापति से ग्रहण करके लौकिक विरह और प्रेम, वासना और यौवन के इस उन्मत्त कवि को, भक्ति-धारा का भगीरथ बना दिया है। विद्यापति के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है। शृंगार और प्रेम की मादक पयस्विनी, जो आगे चल कर ब्रज के माधवी-कुजो का अभिसिञ्चन करती हुई प्रवाहित हुई है, जिसने अपने अविराम धारा-प्रवाह से कूल और मूल दोनो को परिप्लावित कर डाला है, उसका प्रारंभिक स्रोत विद्यापति की ही वाणी मे है, यद्यपि वह भी किसी न किसी रूप मे विकास-शृंखला-सम्बद्ध है।

संत कबीर की वाणी

सार सार कबिरा कही,

सूरा कही अनूठी ।

बची-खुची तुलसी कही,

और कही सब जूठी ।

संत कबीर की वाणी के संबन्ध मे प्रचलित लोकगान को जरा यो रख देना कुछ सचाई रखता है । सचाई इस अर्थ मे कि कबीर ने विचारणीय समस्त समस्याओ पर बहुत अच्छे ढंग से कह दिया है । समाज और जाति के सामूहिक जीवन मे जो कुछ अवाछनीय आपडा है, जो जटिलताएँ उत्पन्न होगई हैं, उनके सम्बन्ध में गहराई से और मौलिक दृष्टिकोण के साथ विचार करने मे कबीर एक ही थे । जीवन-मरण, लोक और परलोक, संसार और ब्रह्म की चिन्ता के साथ सामाजिक और व्यावहारिक जीवन पर इतनी सूक्ष्मता से विचार करने के कारण वे 'जीवन के सारतत्व के व्याख्याता, के नाम से प्रसिद्ध हैं । इस रूप में उनका जो आदर-सत्कार और सम्मान है उसके वे सर्वथा अधिकारी हैं । अपने पैतृक पेशे मे ताने-बाने को बुनते हुए, उन्हें व्यष्टि और समष्टि के, व्यक्ति और समाज के एवं शरीर और आत्मा के ताने-बाने का ध्यान बना हुआ था । वे एक-एक धागे को कीमत समझते थे और उसकी कल्याण-साधना मे रत थे । तभी तो वे ऐसा विशद रूपक बाँध सके हैं—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे के ताना, काहे कै भरनी,
कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना-भरनी
सुषुमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोलै,
पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे
ठोक ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।

इस रूपक के बंधान में उनके दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझा जा सकता है। लौकिक समस्याओं पर दृष्टि रखते हुए भी उनका चरम उद्देश्य पारलौकिक प्राप्ति ही थी। वे संसार को अपना महान सदेश सुनाने के लिये उसी के आस-पास की स्थिति को उपमान रूप से ग्रहण करना उपयुक्त समझते थे। दुनियाँ की नित्यप्रति की छोटी-छोटी बातो पर से उन्होने बडी बड़ी और अत्यन्त जटिल एवं दुरूह आध्यात्मिक पहेलियो को सुलझाया और बोध-गम्य बनाया है। साधारण जीवन और साधारण पेशे मे तथा शिक्षाविहीन वातावरण मे रहकर भी उनकी चिन्तनशील प्रवृत्ति ने लोक और परलोक की साधना के लिए जो मसाला एकत्र किया वह उन्हे अमर बनाने के लिये पर्याप्त है। उनकी वाणी

में उनकी मननशीलता की ऐसी छाप है जो कहीं नहीं मिल सकती। उसमें भाषा का विशेष आवरण नहीं है, केवल विचार और भाव-व्यंजना है। देखिये—

माली आवत देखिकै, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, कालि हमारी बार॥

+ + + +

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगै दुख होय।

+ + + +

निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करत सुभाय।

+ + + +

जो तो कू काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल है, वाको है तिरसूल॥

+ + + +

पात झरंता यों कहै, सुन तरुवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिलें दूर पडेंगे जाय।

+ + + +

माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँधै मोहि।
एक दिन ऐसा होयगा, मै रूँधूगी तोहि।

+ × + +

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।

+ + + +

ऐसी विशद भावव्यंजना को लेकर कबीरदास ने जीवन में एक लहर चला दी थी जिसने बढ़ती हुई क्रांति और अवसाद के स्थान पर एक नवीन स्फूर्ति को लहरा दिया। अपने जन्म और जाति से ही कबीर हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के प्रतीक है। उनसे पूर्व इस दिशा मे प्रयत्न करनेवाला कोई न था। हिंदू-धर्म मे नवीन संस्कार करके उसको समयोपयोगी बनानेवाले सुधारक संतो की दुनियाँ मे इसलाम को स्थान नहीं था। इसलाम के विजय-गर्व से समुन्नत मस्तिष्क में काफिरों की हस्ती नगण्य थी। उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका धर्म और उनकी मान्यताएँ हीनता और घृणा की वस्तु थी। एक ही भूमि पर, और एक ही आकाश के नीचे रहनेवाली, इन दोनो जातियो के रास्ते बिलकुल उत्तर-दक्षिण को थे। कबीर ने, जो किंवदन्ती के अनुसार हाड़-मांस और विचार-संस्कार दोनों मे हिन्दू और मुसलमान का समन्वयात्मक निदर्शन थे, पहले पहल इस समस्या को अनुभव किया। ऊँच-नीच के भेद के सबन्ध मे यद्यपि रामानन्द आदि महात्माओ ने विरोध की आवाज़ उठाई थी, परन्तु त्रिवेणी की धाराओ का यथार्थ संगम कबीर की सूझ और उनकी प्रेरणा का फल है। जहाँ हिंदू और मुस्लिम कुछ नही है। मानवता का एक व्यापक भाव है। परमात्मसत्ता की एक अखण्ड और सार्वभौम रूपरेखा है।

आज के बहुत से लोग जब विचारो की दृष्टि से चौदहवी शताब्दी मे रह रहे है, और दो महान जातियों के विरोधी तत्वो को भड़काने मे ही कल्याण देख रहे है, उन्हें यह भी पता नहीं है कि यह भारत अब उनमे से किसी एक का देश नहीं है न हो सकता है, तब महात्मा कबीर के इस विशाल दृष्टि-कोण को

जितना महत्व दिया जाय थोडा है। ऐसी अन्तर्दृष्टि के साथ प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करने और उनमें आवश्यक सुधार के लिये प्रयत्नशील होने तथा अनेक विरोधों के बावजूद सफलता पूर्वक अपने कार्य को निभा ले जाने में उनकी कुशलता का अन्दाज लगाया जा सकता है। उनका बाहर-भीतर एक रंग से रँगा हुआ था। इसीलिए उन्हें विरोध की परवाह न थी। उन्होंने अपनी वाणी में अपने विचारों को निर्बाध आने दिया है। हिन्दुओं के गढ़ काशी में हिन्दू-धर्म के नाम पर प्रचलित और परि-पोषित पाखंडों का खंडन करने में वे कभी नहीं हिचके। इसी प्रकार मुसलमानी सल्तनत की कमजोरियों पर खुले आक्षेप करने से भी नहीं चूके। सत्यान्वेषी कबीर के लिए धर्म और मतों की यह कलुषता असह्य थी। चरित्र की असीम दृढता और निर्भीकता का निदर्शन उनकी वाणी का सबसे पहला और प्रमुख उद्देश्य था। ईश्वर और धर्म के नाम पर स्वार्थपरता को वे कैसे सह सकते ? उन्होंने जीवन भर उनका घोर विरोध किया। अपनी साधना, तपस्या और अपने आचार पर परम विश्वस्त होने के कारण कहीं पर हम उनमें दीनता नहीं देखते हैं। वे सम्राट् सिकन्दर लोदी के सामने भी वैसे ही दृढ़ रहे और काशी के पंडितों के सामने भी। विचार-जगत में भी वे हिमालय की दृढ़ता से आसीन हैं। ईश्वर की सत्ता पर उन्हें असीम विश्वास है। वे बड़े बल के साथ कहते हैं—

जाको राखे साइयां, मारि न सकि है कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय।

परमात्मा के ऊपर इसी असीम विश्वास ने उनके अन्दर धार्मिक संकीर्णता को बसने नही दिया। यद्यपि खंडन-मंडन की कटु प्रवृत्ति का सहारा उन्हे लेना पडा है पर उन्होंने संकीर्ण स्वार्थों और पाखडो का ही खंडन किया है। धर्म के विश्वरूप को, जो सर्वकल्याणकारी है, उन्होंने सदा सराहा है। संसार के सामने अपने संदेश को रखते हुए उन्होंने कहा है:—

समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये।

उनका यह उद्गार दोपहर के सूर्य की भाँति सत्य है। आध्यात्मपक्ष मे सचमुच अनेक मुमुक्षुओ को उस परम प्राप्ति की उन्होंने उपलब्धि कराई है। राम-रहीम, वेद-कतेब की संकीर्ण सीमाओ को परास्त करके समतल प्रदेश बना दिया है। जहाँ कोई भी अबाध विचरण कर सकता है। 'हिन्दू' और 'तुरुक' के पारस्परिक अन्तर को मानवता के मन्दिर मे एक आसन पर बिठा दिया है। कृत्रिम आवरण को हटाकर प्रकृत रूप के दर्शन करा दिये है। इस प्रकार संत कबीर एक महान विचारक की हैसियत से हिन्दी के समस्त कवियो से निराला स्थान रखते है। वे विश्व की उन महान विभूतियो मे से हैं, जिन्होने मानव की चिरकालीन प्रवृत्तियो को नवीन मार्ग पर चलाया। उन्होंने एक ऐसी क्रान्ति की लहर उठा दी जिसमे पाखंड और प्रपंच का बहुत-सा बवंडर निकल गया। धर्म के असली रूप के दर्शन लोगो को होगये। उनके इसी निर्भीक और सत्यान्वेषी व्यक्तित्व ने लोगो को उनका मुरीद बना दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनो उन्हे अपने हाड-मांस से निर्मित मानने लगे। उनके जन्म, कुल और उनकी गुरु-

परम्परा का सम्बन्ध भी हिन्दुओ ने अपने साथ और मुसलमानों ने अपने साथ लगाया है। उनके समालोचकों ने भी इस बात पर विवाद उठाया है कि वे वैष्णव संत थे या सूफ़ी संत ? यहाँ तक कि उनकी मृत्यु के बाद उनके अन्तिम सस्कार के लिए भी दोनों आपस मे झगड़े। जिसके निवारण के लिए महात्मा कबीर ने जीवन भर यत्न किया। मानव-समाज के कल्याण के लिए जिस धार्मिक संकीर्णता का उन्होंने सदा विरोध किया, उसी का प्रदर्शन अज्ञानी मनुष्य ने उन्ही के अंतिम सस्कार के समय किया। यह कितनी बड़ी विडंबना है !

कबीर-साहित्य का सामूहिक दर्शन बारीकी से किया जाय तो वह यही बताता है कि वे हिन्दू और मुसलमान मे से कोई नहीं थे। वे एकान्त वैष्णव अथवा सूफ़ी भी नही थे। वे इन सबका परिमार्जित और नवीन सस्करण थे। वे एकदम मौलिक सृष्टि थे। वे अपने समय की सब से अनुपम और समयपयोगी कृति थे। सब के सार तत्व से उनका निर्माण हुआ था। कबीर को किसी एक परिभाषा मे बाँधना व्यर्थ है, उनके जैसे स्वाधीनचेता और विचारक किसी एक धर्म-परंपरा के अनुयायी नही हो सकते। मर्यादा और लीक पर चलने वालों की प्रवृत्ति कबीर मे नही है। वे स्वयं निर्माता है। स्वयं कल्पना करनेवाले और स्वय स्रष्टा हैं। परवर्ती सूर और तुलसी से उनमें अन्य अन्तरों के साथ एक यह भी मुख्य अन्तर है। उनकी मौलिक विचारणा का निरीक्षण कीजिये—

मोको कहाँ ढूँढै बन्दे,
मैं तो तेरे पास मैं।

ना मै बकरी ना मै भेड़ी,
ना मै छुरी गॅडास मे।
नही खाल में नही पोछ मे,
ना हड्डी ना मास मे।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद,
ना काबे कैलास मे।
ना तौ कौनों क्रिया कर्म में,
नहीं जोग बैराग मे।
खोजी होय तुरतै मिलि हों,
पल भर की तलास मे।
मै तो रहौ शहर के बाहर,
मेरी पुरी मवास मे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो
सब साँसों की साँस मे।

हा, यह अवश्य है कि उनके अन्दर इस विचारराशि को उद्बुद्ध करनेवाली परिस्थिति उस समय अपने आप बन गई थी। उस परिस्थिति के अन्दर घनीभून वातावरण कबीर के रूप मे प्रकट हुआ, जैसा प्रत्येक युगपरिवर्तन के संधिकाल के समय हुआ करता है।

कबीर की रचनाओं में साहित्यिक छटा

सत कबीर की रचनाओ मे कला-पक्ष की प्रधानता नहीं है। उन्हे काव्यसौन्दर्य को प्रदर्शित करना इष्ट नही था। उनकी भावाञ्जलि का मूल्य इसी दृष्टि से निर्धारित करना चाहिए।

जो लोग संत कबीर को आचार्य केशवदास की पाठशाला मे भेज कर पहले छन्द और अलकार शास्त्र का ज्ञान कर लेने की सलाह देते हैं वे उनकी नैसर्गिक प्रतिभा का उचित आदर नही करते। कबीर ने स्वयं कागद और मसि तक न छूना स्वीकार किया है। और अपने को बार बार 'काशी का जुलाहा' कहकर पण्डितों की श्रेणी से भी अलग कर लिया है। यह सब होते हुए भी उन्हों ने अलौकिक प्रतिभा के बल से अपनी वाणी को ऐसी अन्तर-स्पर्शिनी बनाया है कि देखते ही बनता है। इसी प्रकृत प्रतिभा ने उन्हे विचारक से कवि के ह नहीं एक महाकवि के आसन पर जा बिठाया है। श्रीयुत रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है, यद्यपि कबीर ने पिगल और अलकार के आधार पर काव्य रचना नही की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते है। उनकी कविता मे छन्द और अलंकार गौण है, संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता मे महान सदेश दिया है। उस सदेश का ढग अलकार से युक्त न होते हुए भी काव्य-मय है। कई समालोचक कबीर को कवि ही नही मानते, क्योकि वे कभी कभी सही दोहा तक नही लिखते और अनुप्रास जैसे अलंकारों की चकाचौंध पैदा नहीं कर सकते। ऐसे समालोचकों को कबीर की समस्त रचनाएं पढ़कर उनके कवित्व की थाह लेनी चाहिये। मीरा मे भी काव्य-साधना है,पिगल नही है। फिर क्या मीरा को कवि के पद से बहिष्कृत कर देना चाहिए ? कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना मे हैं। यह विवे-चना कबीर मे पर्याप्त है अतः वे एक महान कवि हैं। वे भावना

की अनुभूति से युक्त है, उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं, और जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

यह बात अवश्य है कि कबीर की कविता मे कला का अभाव है। उनकी रचना मे पद-विन्यास का चातुर्य्य नहीं है। उलटवासियो मे क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है, पर उन्होंने काव्य के इन उपकरणो को जुटाने की चेष्टा भी तो नही की। वे एक भावुक और स्पष्टवादी व्यक्ति थे। उन्होंने प्रतिभा के प्रयोग से अपने संदेश को भावनात्मक रूप देकर हृदयग्राही बना दिया था। उनकी कला उनकी स्पष्टवादिता मे थी, उनकी स्वाभाविकता मे थी। यही स्वाभाविकता उनकी सबसे बड़ी निधि है। कबीर के विरह के पद साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदो से हीन नही हैं। उनकी विरहणी आत्मा की पुकार काव्य-जगत मे अद्वितीय है। रहस्यवादी के दृष्टिकोण से यदि उनकी "पतिव्रता को अंग" पढ़ा जाय तो ज्ञात होगा कि उनका कवित्व संसार के किसी भी साहित्य का शृङ्गार हो सकता है।" सचमुच ही आत्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष के रूप मे चित्रित करके उन्होने रूपक द्वारा अपने काव्य मे अलौकिक माधुरी का संचार कर दिया है। शुष्क आध्यात्मिक तथ्य-निरूपण मे दांपत्य-प्रेम की मिश्री घोल दी है। आत्मा की बेकली का वियोगिनी की तड़पन के साथ, आत्मा के आनंद का लौकिक मिलनानन्द के साथ, मेल बिठाकर कबीर ने अपनी वाणी को सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तु बना दिया है। उनके ऐसे पद लौकिक और आध्यात्मिक दोनो पक्षों मे पूरे उतरते हैं और दोनो प्रकार के पाठको के हृदय को उसी विदग्धता से बींधते हैं। कबीर की भावुकता और उनकी कला के संबन्ध मे तब

कोई संशय नहीं रह जाता। उनकी प्रतिभा का कायल होना ही पड़ता है। हम यहाँ उनके ऐसे पद देते हैं जिनसे पाठकों को कबीर की वाणी के काव्यमय पहलू का भी आभास मिल जायगा।

बाल्हा, आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोउ कहै तुम्हारी नारी।
मोको यह सन्देह रे।
एकमेक है सेज न सोवै।
तबलग कैसा नेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै।
ग्रिह-वन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी को काम पियारा,
ज्यूँ प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी,
हरि सूँ कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं।
बिन देखे जिय जाय रे॥

× ×

घूंघट का पट खोल रे
तो को पीव मिलैंगे।
घट घट मे वोहि साँई रमता
कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन का गरब न कीजै
झूठा पचरँग चोल रे।

सुन्न महल में दियना बार ले
आसा मे मत डोल रे।
जोग जुगत मे रगमहल मे
पिय पाये अनमोल रे।
कह कबीर आनन्द भयो है
बाजत अनहद ढोल रे।

तात्पर्य यही है कि कबीर का काव्य काव्य-टेकनीक के बंधन से स्वतन्त्र और उससे बहुत ऊँचा है। तथापि उसमे काव्य की आत्मा का स्फुरण कही कही ऐसा अलौकिक और मनोहारी है कि उन्हे कवियो का मुकुटमणि मानने मे कोई बाधा नहीं रह जाती। रस-भाव और अलकार स्वत: उसमे अनुगामी होकर आते हैं। इनके अलावा उनकी वाणी मे जो गूढ और गंभीर भाव निहित रहते हैं वे उनके पद को और ऊँचा उठाते हैं। उनमे पाठक को अभिभूत करने की अद्भुत क्षमता है। भावों के ऐसे मार्मिक और रमणीय चित्र कबीर ने खींचे हैं कि उन्हे देखकर हृदय मे एक उथल-पुथल मच जाती है। इसीलिए कहना पड़ता है कि उनकी दिव्य वचनावली मे एक संत और महात्मा के साथ-साथ एक महाकवि के दर्शन भी हो जाते हैं, ऐसे महाकवि के कि जो मानव-हृदय और मानव-जीवन की गहराइयो की पूरी तरह थाह लिए हो। कबीर में हम मस्तिष्क की सूक्ष्म शक्तियाँ तो जागरूक देखते ही है, किन्तु जहाँ-जहाँ उन्होने मस्तिष्क को हृदय-रस मे डुबो दिया है और भावुकता की मस्ती मे झूम कर गा उठे हैं वहीं उनके काव्य का वसतोद्यान सुरभित हो उठा है। उनकी मस्ती देखिए--

हरि रस पीया जानिए, कबहुँ न जाय खुमार।
मैमंता घूमत फिरे, नाही तन की सार।

वे सचमुच ही तन की माल-सँभाल खोकर अपनी इस आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए मतवाले बने घूमते हैं। उनका काव्य उनके जीवन का प्रतिबिंब है। जो स्वय कवित्वमय है। इतना महान विषय लेकर और कोई कवि हिन्दी के प्रागण मे विनीर्ण नही हुआ था। साधारण, सरल और सादी पृष्ठभूमि पर ऐसा विराट् चित्र क्या हर कोई खींच सकता है? बेपढ़ो की भाषा मे उपनिषदो के भाव भर देने की क्षमता क्या सब मे आ सकती है? मननशील कबीर ने बाह्य और अन्तर्जगत दोनो का मथन करके उन्हें एक-रस और एक-प्राण कर दिया था। इसीलिए वे भाषामय नहीं भाव और विचारमय हैं। छन्दानुगामी न होते हुए भी तानपूरे पर पूरे उतरते है, अर्थात् वे कृत्रिम उपादानो मे नही वरन् हृदय के स्वाभाविक आवेग मे ठीक दिखाई देते है।

कबीर का रहस्यवाद

दार्शनिकों की दार्शनिकता ही कवियो का रहस्यवाद है। दार्शनिक क्षेत्र मे चिन्तन का आधार है, काव्य-क्षेत्र मे श्रद्धायुक्त भावना का। दर्शन की उपज मस्तिष्क की उर्वर भूमि मे होती है और काव्य की हृदय के स्निग्ध क्षेत्र मे। किन्तु मस्तिष्क और हृदय इतने अन्योन्याश्रित हैं कि काव्य और दर्शन मनोभूमि की किस ऊँचाई पर गले लगकर चलते है और कब अपने-अपने पृथक मार्गों का अनुसरण करते हैं, इसके लिए कोई नियम स्थिर करना कठिन

है। दार्शनिकों में कवित्व और कवियो मे दार्शनिकता इसी का प्रत्यक्ष प्रमाण है। निर्गुणवादी कबीर भी इन दोनो का सुंदर समन्वय हैं। उनके इसी दार्शनिक भावयोग मे उनके रहस्यवाद का मूल है। उसमे वैष्णव, सूफी और अद्वैत का ताना-बाना मिल कर एक होगया है। आत्मा और परमात्मा के बीच की 'ठगनी माया' अद्वैत की उपलब्धि है। आत्मा मे परमात्मा की लगन का भाव पैदा करने वाले 'गुरु' सूफी मत की धरोहर है, और कान्ताभाव से परमात्मा के लिए प्रेम-विह्वल होना वैष्णव विधि है। इसी प्रकार इस क्षेत्र मे भी कबीर का दृष्टि-कोण मौलिक न सही पर समन्वयात्मक है।

कबीर से पूर्व हिन्दी साहित्य भावभूमि की उस उच्चता पर नहीं पहुँचा था, जहाँ आध्यात्मिक रहस्यवाद का जन्म होता है। रहस्यवाद वह आध्यात्मिक अनुभव है जिसमे साधक असीम अज्ञात शक्ति को अपने मे प्रतीत करने लगता है। वह प्रतीति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक और इतनी अनिर्वचनीय होती है कि उसे वाणीबद्ध नही किया जा सकता। भाषा और भाव का साधन उस लोकातीत अनुभूति के लिए किसी प्रकार पर्याप्त नहीं। इसीलिए अन्तर्दर्शी और पहुँचे हुए महात्माओ की वाणी का सदा भाषा के लौकिक धर्म से काम नही चलता। उनके इंगित और अटपटे वचन चिल्ला चिल्ला कर पुकारते हैं, कि हमने जो कुछ देखा है वह लौकिक साधनो से व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह तो 'गूँगे की सरकरा' की भाँति है, जो केवल उसकी भावभङ्गी मे ही समझा जा सकता है। इन्हीं कारणों से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति मे महात्माओ को सदा ऐसे ऐसे रूपको का सहारा लेना पड़ा है कि

जो लौकिक जीवन में उस आध्यात्मिक सुधा-रस का रसास्वादन करा सकें अथवा यों कहें कि रहस्यवाद का रहस्योद्घाटन करने के लिए रूपकों की भाषा से बढ़कर कोई दूसरी भाषा नही है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि उस भाषा के वास्तविक अर्थ अनुभव-गम्य ही अधिक है वर्णनीय कम। कबीर भी ऐसे स्थलों पर रूपकों में ही बोलते है। देखिये—

जल मै कुँभ, कुँभ मे जल है,
बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुँभ, जल जलहिं समाना,
यह तथ कह्यो गियानी।

\+ + + +

हरि कौ बिलोवनो बिलोवरी माई,
ऐसे बिलोय जासे तत न जाई।
तन करि मटकौ मनहि बिलोई,
ता मटकी मे पवन समोई।
इला पिंगुला सुषमन नारी,
वेगि बिलोइ ठाढी छछिहारी।
कहै कबीर गुजरी बौरानी,
मटकी फूटी जोति समानी।

× ×

दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव औ लहर मे भेद कोयम
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो दूसरा किस तरह होयम

उसी नाम को फेर के लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम
जक्त ही फेर सब जक्त औ ब्रह्म मे
ज्ञान करि देख कब्बीर गोयम।

\+ + + +

जो चरखा जरि जाय, वढैया ना मरै।
मै कातौ सूत हजार, चरखुला जिन जरै।
बाबा मोर ब्याह कराव, अच्छा बरहि तकाय।
जौ लौ अच्छा बर न मिलै तौ लौ तुमहि बिहाय।
प्रथमे नगर पहुँचते, परिगो सोग संताप।
एक अचमा हम लखा जो बिटिया ब्याहल बाप।
समधी के घर समधी आये, आये बहू के भाय।
गोडे चूल्हा दै दै चरखा दियो दिढाय।
देवलोक मर जायेंगे, एक न मरै बढ़ाय।
यह मनरंजन कारनै चरखा दियो दिढाय।
कहहि कबीर सुनो हो संतो, चरखा लखै जो कोय।
जो यह चरखा लखि परै ताको आवागमन न होय।

कबीर का रहस्यवाद प्रेमानुवर्ती है, किंतु उसमे जो आध्यात्मिक तत्व है उसके कारण उसका माधुर्य बहुत कुछ ऊँचा उठ गया है। उसमें लौकिक प्रेमवासना की छाया नही पड़ती। आध्यात्मिक-अनुभूति को दांपत्य-प्रेम के रूपक में अभिव्यक्त करके उन्होंने माधुर्य के चारों ओर दैवी-वातावरण की सृष्टि कर दी है। उसमे डूब कर मानसिक प्रवृत्तियाँ सांसारिक बंधन से विमुक्त एक पुण्य और प्रशान्त प्रदेश मे विचरण करने लगती है। आत्मा मे पर-

मत्मा-सत्ता का प्रतिभान होने लगता है । रहस्यवाद की जिस उत्कृष्ट स्थिति का आभास कराने के लिए बहुत बड़े समारंभ की और बहुत लंबी और कष्टसाध्य यात्रा की, आवश्यकता होती है तब कहीं असीम से ससीम का, परमात्मा में आत्मा के गाढालिंगन का दृश्य उपस्थित होता है, अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर वह स्थिति कबीर बडी आसानी से उत्पन्न कर देते हैं । वे एक साधक की नही सिद्ध की वाणी मे अपने हृदय के उद्गार गाते हैं। उनकी पद्धति कानों पर नहीं आत्मानुभव पर आश्रित है । उनकी गवाही विश्वसनीय हैं । वह हँसकर उडा देने की वस्तु नही है ।

गगन की गुफा तहाँ गैब का चाँदना,
उदय औ अस्त का नाव नाही ।
दिवस औ रैन तहाँ नेक नहि पाइये,
प्रेम और परकास के सिंध माहीं ।
सदा आनन्द दुख दुंद व्यापै नहीं,
पूरनानंद भरपूर देखा ।
भर्म औ भ्राति तहाँ नेक आवै नहीं,
कहै कब्बीर रस एक पेखा ।

प्रेम और प्रकाश के उस समुद्र का उन्होंने स्वयं साक्षात किया था, उस 'भरपूर पूर्णानंद' को देखा था । वे साधारण प्राणी नहीं थे । उनकी भाषा उनके अन्तर का सलिल-प्रवाह है और उस साक्षी को वहन करती है जो उस अननुभूत असीम सत्ता के सम्बन्ध में उनको हुई थी । उस अपरूप की रूपरेखा को नाना-विध चित्रित करके भी वे क्या उसके रहस्य को खोल सके हैं ?

वे ही क्यों, क्या संसार का कोई संत या महात्मा अब तक उस सागर को शब्दों की गागर में भर सका है? शक्कर की मिठास कभी गूँगे की जीभ से व्यक्त हुई है? आखिर उन्हें यही तो कहना पड़ा है—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?
हीरा पायो गाँठ गठियायो
बारबार वाको क्यों खोलै?
हलकी भी जब चढ़ी तराजू
पूरी भई तब क्यों तोलै?
सुरत कलारी भई मतवारी
मदवा पी गई बिन तोलै?
हंसा पाये मानसरोवर
ताल तलैया क्यों डोलै?
तेरा साहिब है घट माही
बाहर नैना क्यों खोलै?
कहै कबीर सुनो भई साधो
साहिब मिल गये तिल ओलै?

किन्तु सान्त में अनंत के संयोग के लिए विषम व्याकुलता का होना आवश्यक है। बिना प्रेम-पीड़ा और तड़पन के अनंत-मिलन एक खिलवाड़ हो जायगा। जीवन और प्राणों की बाजी लगाकर ही प्रेम की यह चौसर खेली जा सकती है। प्रेम-पथिक महात्माओं ने इस प्रेम-पीड़ा का पोषण अपने हृदय में किया है, और उसकी बेकली को उसी विह्वलता के साथ व्यक्त भी किया है।

अब मोहि लै चल नणद के वीर
अपने देसा
इन पंचन मिलि लूटी हूँ
कुसंग आहि बिदेसा
गंग तीर मेरी खेती बारी
जमुना तीर खरिहान
सातो बिरही मेरे नीपजै
पंचू मोर किसान
कहै कबीर यहु अकथ कथा है
करता कही न जाई
सहज भाइ जिहि ऊपजै
ते रमि रहै समाई ।

× ×

सरवर तटि हसनी तिसाई
जुगति बिना हरि-जल पिया न जाई
पीया चाहै तौ लै खग सारी
उड़ि न सकै दोऊ पग भारी
कुंभ लियैं ठाटी पनिहारी
गुण बिन नीर भरै कैसे नारी
कहै कबीर गुरु एक बुधि बताई
सहज सुभाइ मिले राम राई ।

आत्मा परमात्मा का अंश होकर भी क्या सहज ही उसका संपर्क पा सकता है ? रस्सी बिना कुएं से जल कैसे खींचा जाय ? एक आध्यात्मिक गुरु के बिना मुमुक्षु आत्मा का मार्ग प्रदर्शन कौन करेगा ? हंसिनी को सरोवर का जल पीने की युक्ति बताने वाला भी तो कोई चाहिये । संत-परंपरा में इस आध्यात्मिक गुरु का स्थान बहुत ऊंचा है । प्रियतम से प्रियतम का मिलन कराने वाला अधिक अभिनंदनीय है तभी तो कहा है ।

गुरु गोबिन्द दोनो खड़े
काके लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन
गोबिद दिया बताय ।

कबीर आत्मिक विकास की सर्वोच्च भूमि पर पहुंच गये हैं, उन्होंने चरम सत्य का प्रत्यक्ष पा लिया है । उनके सामने जो कुछ यथार्थ है वह हमारे लिये अकल्पनीय है । हम जिसे परम सत्य माने बैठे हैं उसके लिए उनके अन्तर्जगत का पत्ता-पत्ता तक विपरीत धारणा बनाये है । मोह-मायाग्रस्त हम सब जिस संसार को नित्य सत्य मानकर उसकी उपलब्धि मे जीवन-प्राण एक किये रहते हैं, उसके सम्बन्ध मे पत्तों और कलियों से उन्होंने कहलाया है —

पात झरंता यों कहै,
सुनु तरुवर बनराय ।
अब के बिछुड़े ना मिलें,
दूर पड़ेंगे [illegible] ।

माली आवत देखकर,
कलिया करी पुकार।
फूले-फूले चुन लये,
कालिह हमारी बार।

कबीर ने जिस दिव्य ज्योति के दर्शन किये थे, उसे उन्होंने नाना रूप से प्रकाशित किया है, पर उस अविनाशी का विनश्वर साधनों द्वारा चित्रित करना सरल नहीं है। घरेलू दृष्टान्तों के रूपक बांधकर कबीर ने उस रहस्य-भावना को साकार बनाया है, उस अमरतत्व का निरूपण किया है। उनकी इसी विशेषता ने उनकी वाणी को सर्वसुलभ करके अमरत्व प्रदान किया है। उनकी रमैनी, उनकी साखी, उनके पद और उनके दोहे जीवन के हर एक स्तर में भिदे हुए हैं। वे ज्ञानियों में ज्ञानचर्चा के रूप में, और साधारण लोगों में दृष्टान्तों और कहावतों के रूप में व्यवहृत होते हैं। जिसके निर्णय में दार्शनिकों का सिर घूम जाता है, उसके सम्बन्ध में कबीर के साधारण पाठक पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं।

निराकार की आरसी,
साधौ ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को
इन ही में लख लेह।

इस सब पर विचार करने के उपरान्त हमें यही कहना पड़ता है कि महात्मा कबीर जैसे ही दूरदर्शी थे वैसे ही अन्त-

दर्शी और उपासक भी। सत्यान्वेषण और उसकी स्थापना में उन्होंने अपने जीवन को लगा दिया था। उनके भावावेश और उनकी तन्मयता के कारण उनकी ग्रामीण और अनगढ़ भाषा भी सजीव हो उठी है। उसमें इतना प्रसाद आगया है कि वह किसी भी साहित्य-शिल्पी के समकक्ष रक्खी जा सकती है। दो शब्दों में, विचार और भावक्षेत्र दोनो में कबीर जीवन्त क्रान्ति के अग्रदूत थे।

सूरदास के अमर पद

संत-परम्परा और भक्ति-भावना की दृष्टि से प्राचीन हिन्दी-काव्य-साहित्य विश्व-साहित्य में सब से पृथक खड़ा है। हिन्दी के लिए यह विधाता की ऐसी देन है जो संपन्न से संपन्न साहित्यों के हेतु ईर्षा की वस्तु है। विश्व-साहित्य के महारथियों ने जो उद्गार हिन्दी के साथ अन्य साहित्यों की तुलनात्मक समीक्षा करते समय जबतब व्यक्त किए हैं, उनसे हमारे उपरोक्त कथन का समर्थन होता है। इस संत-परम्परा और भक्ति-साहित्य में इतना क्या आकर्षण है, जो विद्वज्जनों का ध्यान अपनी ओर खींचता है? इसका उत्तर दो शब्दों में देने का यत्न करें तो यही कहना होगा कि इसके द्वारा मर्त्यलोक में स्वर्ग की अवतारणा का स्तुत्य प्रयास हुआ है। सांसारिक-जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति के ऐसे रोचक दृश्य-दर्शन का सौभाग्य और किसी साहित्य को प्राप्त नहीं हुआ है। यों तो मनुष्य में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का उद्रेक स्वाभाविक है, पर जीवन में उसका स्थान वही है जो आठ पहर के दीर्घ काल में प्रभात बेला का, किन्तु यहाँ तो यह काल क्षणों तक नहीं शताब्दियों तक विस्तृत रहा है। इस युग की रचनाओं में दिव्य अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण हुआ है, उसने कला और साहित्य दोनों में पवित्रता की अपूर्व छाप लगा दी है। इसमें लौकिकता के प्रति विद्रोह-भावना नहीं है और इससे भी कला का उत्कर्ष-साधन ही हुआ है। आध्यात्मिकता तो निस्सन्देह

इस परम्परा के द्वारा काव्य-साहित्य का एक मुख्य वर्णनीय विषय हो उठी है। इससे जीवन में शान्ति और सन्तोष, आशा और उल्लास, कर्तृत्वशीलता और सदाचार की स्थिति मजबूत हुई है। अस्थिरता और निराशा की काली छाया का आवरण तिरोहित होकर आनन्द का एक शुभ्र प्रकाश दिग्दिगन्त में परिव्याप्त हो गया है। संत-साहित्य मे इस दिव्यानुभूति के सर्वत्र दर्शन होते हैं, उदाहरण के लिए सूरदास का एक पद नीचे देते है—

चकई री, चलि चरन-सरोवर,
जहा न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नहि कबहू,
वह सागर सुख जोग।
जहा सनक से मीन हंस सिव,
मुनिजन नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिप नहि सांस डर,
गुंजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल,
सुकृत अमृत रस पीजे।
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहगम,
इहां कहा रहि कीजे।
लछमी सहित होत नित क्रीड़ा,
सोभित सूरजदास।

अब न सुहात विषय रस छीलर,
वा समुद्र की आस।

'सूरदास'

यह वह पार्थिव प्रेम नहीं है जो वासना की गन्ध से कलंकित होता है। विषय-रस से परे अपार्थिव नाम रूप-विहीन उस अमर सत्ता के प्रति हृदय की बेकली का निदर्शन है। ऐसे भक्ति-रस का इतनी प्रभूत मात्रा में सचय और किसी साहित्य में हुआ हो ऐसा ख्याल नहीं। इस भक्ति-धारा के सूरदास जी एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्हें उसका स्रष्टा और विधाता कहने में भी शब्दों का अपव्यय नहीं होगा। उन्होंने सचमुच ही साहित्य और कला के क्षेत्र में भक्ति-भावना की तीर्थ-सलिला बहाई है। उन्होंने रूप और सज्जा को, प्रेम और सौंदर्य को दैवी पवित्रता से अभिषिक्त किया है। परवर्ती रीति-कालीन कवियों की वासनाजन्य उद्दाम कामुकता का चित्रण सूरसाहित्य का विषय नहीं है। सब कुछ कह कर भी वे पवित्र और अलिप्त हैं, और उनका पाठक भी उनके राधाकृष्ण के प्रति सर्वत्र आराध्य भाव लिये रहता है, अपने पर उन्हें आरोपित नहीं करना चाहता। यह सब उनकी सत्यनिष्ठा और आन्तरिक प्रेरणा का परिचायक है। उनके महात्मापन, उनकी भक्ति, उनके हृदय की उच्चता और आचार की पवित्रता की जो छाप उनकी कला पर लगी हुई है वह उसकी सुन्दरता के वासनात्मक और रंगीन रूप को दिव्य आभा से सराबोर किये है। यह सूरदास की ऐसी विशेषता है जो उन्हें प्रत्येक अर्थ में कवि, भक्त-कवि एवं विश्ववंद्य कलाकार प्रमाणित करती है।

कबीर के तत्त्वज्ञान में भूलकर हम काव्यक्षेत्र से दूर जा सकते हैं, तुलसी की अनन्यता में कला की मृदुलता का ह्रास प्रतीत हो सकता है। परन्तु सूरदास सर्वत्र कवि एवं कलाकार के साथ भक्ति के उन्माद में उन्मत्त हो रहे हैं। यही भक्तिपूर्ण भावावेश उन्हें सब से पृथक किये हुए है। भक्त-परिवार के लोग उन्हें मस्तक पर स्थान देते हैं तो कलाकारों की दुनियां में वे अनुपम शिल्पी हैं। उनके यहाँ भाव प्रबन्ध के बन्धन में बँधकर नहीं निकलते वरन हृदय के संगीत में गूँजते हैं। भाषा की अशक्तता में लँगड़ा कर चलने का असबद्ध प्रवाह भी उनमें नहीं है, वे एक लय में, एक तान में, प्रस्रवित होते हैं। सूरदास के काव्य में संगीतमयता का यही रहस्य है। सूर कोरा कवि नहीं है। वह अपने भक्तिपूर्ण भावों का उन्मत्त गायक है। उसकी भावविभोर भारती व्यवहार-जगत की समतल भूमि की सरिता नहीं, अन्तर्जगत की स्रोतस्विनी है। उसके काव्य का विषय भी इसी हेतु जीवन-जगत का सम्पूर्ण-विस्तार नहीं, वरन् गिनेगिनाये वे ही क्षेत्र हैं जहाँ उसकी भावुकता को कल्पना के रंगीन पंख लगा कर ऊँची से ऊँची उड़ान भरने का अवसर प्राप्त है। उसकी स्वाभाविक मृदुता ने अपने लिए जो प्रदेश तलाश किए हैं, वे इस अन्धे की बपौती हैं। उसने अपनी हृदय-तन्त्री पर सदा वही गीत गाये हैं- और उनके गाने में वह निपुणता दर्शाई है कि जब हम उन्हें गुनगुनाने लगते हैं तो आत्मविभोर हो जाते हैं। हमी क्यों भारतवर्ष के घर घर में उसकी वाणी गूँजती है। उसके कृष्ण, उसकी राधिका, उसकी यशोदा, उसकी गोपियाँ कोटि-कोटि कंठ से उसकी लय

में लीन हैं।

भगवान् बुद्ध की भक्ति का एक बार इसी भारत में प्रवाह आया था। प्राणों के स्पन्दन में स्थान मिलने से यह तन से मन से क्या, कण-कण से, रोम-रोम से, फूट पड़ी थी। उस समय के तृण-तृण में उसकी सुगन्ध बसी हुई है। साहित्य में शिल्प में, आदेश में-प्रदेश में, मूर्ति में, चित्र में, कहां बुद्धदेव की करुणा नहीं है ? उनकी भव्य-दिव्य आत्मज्योति का प्रकाश अभी तक वैसा ही प्रोज्ज्वल है यद्यपि आज स्वयं बुद्धदेव नहीं हैं। इसी भांति आज सूरदास हमारे बीच नहीं है, पर वे अपने गीतों में अजर-अमर हैं। अपने गीतों के साथ वे हमारे घर-घर में, कुटी-कुटी में, त्योहार और उत्सव में, राग और रंग में, प्रेम और भक्ति में, साहित्य और शिल्प में मुखरित हो रहे हैं। उनका संगीत पृथक कर देने से हमारा कृत्रिम नागरिक जीवन चाहे अपने टीमटाम के साथ कुछ देर खड़ा रहे परन्तु हमारी जीवन-सरिता का मूल स्रोत अवश्य ही क्षीण हो जायगा। माताओं के, प्रेमिकाओं के, भक्तों के और सखाओं के लिए अपने हृदय के उद्गार निकालने का सूरदास के पद ही तो द्वार हैं। उन्हें खोकर 'मैया कब हि बढ़ैगी चोटी' ऐसी वात्सल्य रस को मूर्तिमान करने वाली उक्तियाँ कहां मिलेंगी ? हमारे हृदय की भावनाओं का वह अमर गायक सूरदास आज यदि होता तो उसे अपने कृतित्व पर आश्चर्य हुए बिना न रहता। उसने अपने सुललित गीतों में हमारे मन का शाश्वत भाव गा दिया है। इसी लौकिक अनुभूति में निमज्जित होने के कारण उसे भक्ति के क्षेत्र में अपनी अंजलि निर्गुण के चरणों

मे न चढ़ाकर सगुण के चरणों में समर्पित करनी पड़ी है।

तुलसीदास का विस्तृत और बहुमुखी प्रेक्षण सूरदास के काव्य का लक्ष्य नही है। इस पर आलोचक-प्रवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने पर्याप्त और अच्छा प्रकाश डाला है। जीवन की सार्वदेशिक विवेचना मे प्रवृत्त होने का अवकाश ही उन्हे कहाँ है? उनके चक्षुहीन संसार में लोकजीवन की व्यावहारिकता, उसके अनुशीलन, उसके विवरण और उसके प्रेय एवं श्रेय के निदर्शक प्रत्येक पहलू का विवेचन करने की गुंजायश नहीं है। इसीलिए यत्र-तत्र ऐसा वैसा संकेत भर प्राप्त हो जाता है जहां से हम उनके समय के समाज और जीवन का आभास पा जाते है। उस समय के रहन-सहन, पहनाव-ओढ़ाव, आचार-व्यवहार पूजा-अनुष्ठान की सविस्तर अभिज्ञता सूरदास से हमे नहीं होती। बाह्यज्ञान की साधनभूत आंखों के अन्तरमुखी हो जाने से सूरदास की प्रतिभा भी अन्तर्जगत के अनावरण में विशेषरूप से प्रवृत्त हुई है। सौभाग्य और संजोग से सूरदास जी को महाप्रभु वल्लभाचार्य का संसर्ग प्राप्त हुआ। इस संसर्ग की प्रेरणा से उनकी नैसर्गिक प्रतिभा मे पंख लग गये। उन्हे भगवद्लीला का ऐसा स्फुरण हुआ कि वह बरसाती नदी की तरह उनसे अमर पदों मे उमड पडी।

वैष्णवों क राधा-कृष्ण ही उनके काव्य के सर्वस्व है। राधाकृष्ण के साथ गोकुल-वृन्दावन, बरसाना-नन्दगांव, मथुरा-ब्रजभूमि, जमुना-जसोदा, ललिता-विशाखा, गौएँ और ग्वाल आते हैं। इनके बिना राधा-कृष्ण की दुनियाँ सूनी ही नहीं है, वरन् उसका अस्तित्व भी इन्हीं को लेकर है। इस परिस्थित

दायरे मे जीवन की साधना और आराधना का विशाल प्रासाद सूरदास ने खड़ा किया है। इन्हीं के आधार पर वात्सल्य, सख्य और कान्ता भाव के सम्बन्धों को उन्होने अपनी वाणी का मर्मस्थल बनाया है। मानव-अनुभूति के सुन्दर से सुन्दर स्थल अपने लिए सुरक्षित कर लेने पर उन्होंने उसे अपने हृदयरस मे सिक्त करके प्रतिभा के साथ संलग्न कर दिया है। सूरसागर के इन प्रकरणों को पढ़ते समय हमे पता चलता है कि हमारे ये अंधगायक, हिन्दी के होमर, विश्व-कवियो मे कहाँ पर खड़े हैं? सूरदास को पढ़ने के पहले क्या कभी हम यह सोच सकते हैं कि मनोवृत्तियो की यहां तक व्यंजना हो सकती है! शिल्प चित्रों की इस विस्तृत विशद दुनियां मे कौन उनका जोड़ है? अगणित पदों मे हृदय की इन तीन अवस्थाओं का नाना विधि चित्रण करने मे वे जैसे सफल हुए हैं, वह अन्यत्र दुलभ है। उन्होने अपने पदों से सूरसागर भर दिया है। तब से जिसका लगातार मंथन हो रहा है, परन्तु अभी तक रत्न और सीपियों का अनुसन्धान नही हो पाया। भाव और अनुभावों की जितनी दशाएं हो सकती है, वे सभी सूर-साहित्य मे स्थान पा चुकी है या उनमे से कोई रह गई है, यह निश्चय पूर्वक कह सकना कठिन है। इसीलिए यदि हम सूरसागर को 'मानव-हृदय का सागर' कहे तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। सच मुच ही उसमे विश्व-व्यापी हृदय की वह रागिनी बजती है जो चिरनूतन है। युगों और शताब्दियों का अन्तर जिसे जरा-जीर्ण नही कर सकता। मानव हृदय के सुख-दुख की अमर झाँकी जिसमे सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के रस को आंखों से पीकर कवि

ने हृदय और वाणी के द्वारा उंडेल दिया है।

सूरदास की कविता का कलेवर भावों के मक्खन से बना हं सही, परन्तु उसका आधार दृढ़ अस्तित्ववाला है। उसमें माँ और बेटा, पिता और पुत्र, प्रेमी और प्रेमिका, स्त्री और पुरुष के मांसल कलेवर का रूप-विधान हुआ है। इसीलिए वह चिंतन और अनुभव के साथ ही रसास्वाद की वस्तु भी है। परन्तु उसमें आत्माहुति और त्याग की अनवरत् तपस्या का उज्जवल प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है जो मानवजीवन की सर्वोच्च कला का परिचायक है। यह प्रकाश सब चरित्रों में दिखाई पड़ता है परन्तु माता यशोदा और राधिका में तो यह अपनी सीमा को पहुँचा हुआ है। गोपियाँ, गोप, ग्वाल, गोकुल की गौएँ और वृन्दावन के लता-कुंज तथा नील सलिला कालिंदी तक इस कठिन मार्ग के पथिक बने हैं। सूर ने ज्ञान और मोक्ष का तिरस्कार करके भक्ति और प्रेम को इतना ऊँचा उठाने में फूलों की सेज का निर्माण नहीं किया है, प्रेमी भक्त को कंटकपथ से ही जाना पडा है। सर्वस्व-समर्पण द्वारा आत्म-यज्ञ की पूर्णाहुति बिना क्या कभी कोई इष्ट प्राप्ति कर सका है? गोपियाँ भी नहीं कर सकी। राधा भी नहीं कर सकी। यह किस योग और तपश्चर्या से भिन्न है? ज़रा सूर की उस राधा का ध्यान तो कीजिये। वह अपने आराध्य के लिए किस हालत में रह रही है।

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम जल अन्तर तनु भीजे,
ता लालच न धुआवति सारी।
अधमुख रहति उरध नहिं चितवति

ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ।
छूटे चिहुर वदन कुम्हिलाने,
ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।
हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई,
इक विरहिनि दूजे अलि जारी ।
'सूरस्याम' बिनु ज्यों जीवति है,
ब्रज बनिता सब स्याम दुलारी ।

× × ×

बिनु माधव राधा—तन सजनी सब विपरीत भई ।
गई छपाय छपाकर की छवि रही कलंक मई ।
लोचन हुते सरद सारद से सुछवि निचोय लई ।
आँच लगे चुइगो सोनो ज्यों त्यों तनु धातु हई ।

यह साधना और कष्टों की मौन स्वीकृति सूर की राधा को वासनात्मक पंकिल भूमि से बहुत ऊँचा उठा देती है। कृष्ण के प्रति राधा की जो लगन है वह इतनी तपःपूत होकर प्रकट हुई है कि उसमे विकार का लेश भी नहीं रह गया है। यों तो सूरदास ने कहने से कुछ नही छोड़ा है। रूप और रति के वर्णन मे वे सब कुछ कह गये हैं। उनके पास संकोच और गोपनीय बहुत कम हैं। परन्तु परिणति मे वह विकार-जन्य नहीं है। राधा कृष्ण की केवल प्रेमिका नहीं है। केवल रूप और यौवन का उनका सम्बध नहीं है। वे उनकी बचपन की सखी हैं। उस समय का दोनो का साथ है, जब हृदय में आँधी और तूफान नहीं उठते, केवल निश्छल और निष्कलंक अनुराग

रहता है। उस बाल्यप्रेम ने अवस्था के साथ सघन—गंभीर होकर विशाल वट-वृक्ष की तरह फैलकर सब को आच्छादित कर लिया है। यही उस प्रेम की गहरी जडे हैं वे रसातल तक जा पहुँची हैं। उन्हे वियोग और कष्ट की दुर्निवार छाया अस्थिर नहीं कर सकती। वह प्रेम का बरसाती झरना नहीं है। उसका उद्गम उस आदि-स्रोत से है जो सूखना नहीं जानता। इस उद्गम को खोजते हुए चलें तो 'सूरसागर' मे ऐसे असंख्य दृश्य मिलेंगे —

हिंडोरै हरि संग झूलहि घोषकुमारि।
ब्रज बध विधि क्यों न कीन्हा,
कहति सब सुर—नारि।
झमकि झमकि झकोर लेति सु,
मची रुचि अति चैन।
गावत कण्ठ सुराग नागरि,
गिरिवर कीजत सैन।
कनक नूपुर, कुनित कंकन,
किंकिनी झनकार।
तहँ कुँवरि वृषभानु की,
सँग सोहै नन्दकुमार।

बाल्य सहचरी राधा आदि के साथ कृष्ण के प्रथम प्रेम की घटना किसी एक्सीडेन्ट के रूप मे घटित न हुई थी। वह प्रेम अज्ञातभाव से परन्तु स्वाभाविक रीति से विकसित हुआ था।

इसके सिवा और कुछ होना ही नही था। इस एक पद मे ही उस प्रेम का समस्त आशय सूर ने कह दिया है—

यह कछु भोरेहि भाय भई।
निरखत बदन नंद नन्दन को,
अब रहती मो गई।
हिरदै जामि प्रेम-अंकुर जरि,
सप्त पतार गई।
सो द्रुम परसि सिखर अंबर लौं,
सब जग छाइ लई।
बचन सुजंत्र मुकुल अवलोकनि,
गुननिधि पुहुप भई।
परसि परम अनुराग सींचि सुख,
लगी प्रमोद जई।
मन के सकल मनोरथ पूरन,
मेमर भार नई।
सूरदास फल गिरधर नागर,
मिलि रस-रीति ठई।

जिस प्रेम का जन्म बचपन के इन भोले भावों मे हुआ था, उसकी जड धीरे धीरे सप्त पताल तक पहुँच गई हो या उसकी शिखा ने ऊपर उठकर आकाश को छू लिया हो, इसमे आश्चर्य ही क्या ? राधा और गोपियों का यही प्रेम सूरदास के हृदय की आकुल पुकार है। प्रवासी कृष्ण के प्रति

इसी आधार पर वे समस्त सृष्टि में विरह-कथा की आवश्यकता का अनुभव कर सके हैं। उन्होंने जड़चेतन के ज्ञान को भुला कर सब को विरह-रस की गंगा में स्नान कराया है। कृष्ण के बिना वन का फूलना भी उनके दुनियां को असह्य है। उनके इस प्रकृत व्यापार के प्रति चारों ओर से धिक्कार की ध्वनि निकलती है, यथा—

मधुवन, तुम कत रहत हरे।
विरह-विजोग स्याम सुन्दर के
ठाढ़े क्यों न जरे।
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको,
फिर सिर पुहुप धरे।
ससा, स्यार और बन के पखेरू,
धिक-धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में,
काहे न उकठ परे।
सूरदास प्रभु-विरह-दवानल
नख-सिख लौं पसरे।

सृष्टि के निरन्तर व्यापारों में उन्हें विरह की व्याकुलता ही दिखाई पड़ती है। उसकी व्यापकता में क्या नहीं समा गया ? संसार का एक-एक अणु और परमाणु उसके अनुभव से शून्य नहीं है। विश्वजीवन इसी मूल भावना से सजीव है। उसे निकाल देकर संसार के अस्तित्व की कल्पना ही खतरे में पड़ सकती है। इस सुन्दर और मधुर अनुभूति को हमारे अंध गायक

ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

विरही कहँ लौं आपु सँभारै ?
जब ते गंग बिछुरी हरि पद ते
बहिवौ नाहि निवारैं ।
नयनन ते रवि बिछुरि भँवत रहै,
ससि अजहू तन गारै ।
नाभि ते छिरे कमल काठ भये,
सिन्धु भये जरि, खारै ।
बैन ते बिछुरी बानि अविधि भयी,
विधि ही कौन निवारैं ।
सूरदास सब अँग ते बिछुरी,
केहि विध उपचारै ?

जिनकी अनुभूति इतनी सजग है, जिनका प्रेम इतना घन-गम्भीर है, जो प्रकृति के लेखों से विरह-भावना की तन्मयता का ही संदेश सुनती और बांचती हैं, ये यदि ज्ञानी ऊधो के सामने प्रेम की अनन्यता को इन शब्दों में रखें तो कोई अत्युक्ति नहीं ।

मधुकर हम न होहिं वे बेली ।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु
करत कुसुम-रस-केली ।
बारे ते वलवीर बढाई,
पोसी प्यायी पानी ।

बिन पिय परस प्रात उठि फूलत
होत सदा हित हानी ।
ये बल्ली विहरत बृन्दावन
अरुझीं स्याम तमालहि ।
प्रेम-पुष्प रस बास हमारे
विलसत मधुर गोपालहि ।
जोग समीर धीर नहि डोलत
रूप-डगर ढिग लागी ।
सूर पराग न तजत हिए ते
कमल नयन अनुरागी ।

यह एकान्त प्रेम एक-पक्षीय होने से सांसारिक जीवन के लिए निरर्थक होता । प्रत्युत्तर-विहीन प्रेम-साधना मरुस्थल की उच्छ्वास की तरह अकारथ जाता । लोक-जीवन के लिए उसमें लाभालाभ का कोई आकर्षण न होता । इसलिए राधा और गोपियों की इस प्रेम-पीड़ा का इसके अनुरूप ही पुरस्कार भी सूर साहित्य में प्रकट है । अनेक कर्तव्यों में संलग्न कृष्ण की व्यस्तता कितनी बढ़ी हुई है ? समस्त देश की राजनीति और समाजनीति को उन्हें संचालित करना है । धर्म और शास्त्रों की मर्यादा का पुनर्निर्माण उनके जिम्मे है । जीवन में नई व्यवस्था को स्थापित करने के गुरुतर दायित्व का भार उनके कन्धों पर है । इसी कर्तव्य की आवश्यक प्रेरणा ने उन्हें ब्रजभूमि, नन्द-यशोदा, राधा और गोपियाँ, बृन्दावन और गोकुल से दूर कर रक्खा है, परन्तु ऊधो के सन्मुख एकान्त में जब वे अपना हृदय खोल कर

रखते है तभी हम जान पाते हैं कि ब्रजांगनाओ का प्रेम क्या रंग ला रहा है? राधा का कृष्ण के जीवन मे कहां पर स्थान है? यशोदा और ब्रजभूमि तथा यमुना-तट के करील कुंज कहाँ पर बसते हैं? प्रेम का यह पुरस्कार उस साधना की सफलता है जिस पर मुग्ध हुए बिना हम नही रह सकते। यह प्रेम-परिणाम की कटुता को मधु बनाता है और प्रेम-पथ को अनुसरणीय सिद्ध करता है। इससे प्रेमी हृदयों को प्रेरणा का संबल प्राप्त होता है। देखिए कृष्ण ऊधो से क्या कहते है--

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी
अरु कुंजन की छाहीं।
वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी,
खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल
नाचत गहि- गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी,
मनि मुकताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवत वा सुख की
जिय उमगत तनु नाहीं।
अनगन भांति करी बहु लीला,
जसुदानन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै,
यह कहि—कहि पछिताहीं।

प्रेमिका राधा के चित्र को और उज्ज्वल करने के लिए सूरदास ने अनेक पदों की रचना की है। उन्हें आद्योपान्त पढ़ने पर ब्रज की इस कुमारी की मानस प्रतिमा पाठक के हृदय पर अंकित हुए बिना नहीं रहती। काव्योचित उपमाओं का वैभव बिखेर कर राधा के रूप-लावण्य का निदर्शन कवि ने विशेष नहीं कराया है। विशेष इस अर्थ में कि सूरदास रूप-वर्णन के आचार्य हैं और उपमानों का अखूट भंडार उनके पास होते हुए भी इसके सम्बन्ध में उन्होंने कृपणता से ही काम लिया है। तो भी राधा की जो प्रतिमा वे अंकित कर सके हैं वह साहित्य जगत में अनोखी वस्तु है। उनकी अमिट छाप हृदय पर पड़े बिना नहीं रहती। राधा की उस प्रतिमा में निश्छल प्रेम की मधुर छाया है। विलास वासना का अमर्यादित वेग नहीं। उनका प्रेम बाल्य-काल की सहचरता का परिपक्व रूप है, इसीलिए सघन-सान्द्र होते हुए भी वह अन्य शृङ्गारी कवियोंकी भाँति उच्छ्वसित नहीं है। इसी विशेषता के फल-स्वरूप राधा कृष्ण पर अपना सर्वाधिक अधिकार समझती हैं। ऊधो के सामने जाकर वहाँ सब कोई अपना-अपना प्रेम संदेश निवेदन करती हैं वहाँ राधा के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। कुरुक्षेत्र के मिलन के अवसर पर भी राधा का यही मानिनी रूप अपनी दारुण दशा के साथ अंकित हुआ है, परन्तु कितनी मार्मिक सहृदयता उसमें है? कवि की अन्तर्दृष्टि कैसी पारदर्शिनी है जिसकी लेखनी में वह दृश्य अपनी अमर सजीवता को लेकर अवतरित हुआ है।

दूसरा अमर चरित्र माँ यशोदा का है। उनकी रूप-रेखा प्रस्तुत करने में तो शायद सूरदास विश्व-कवियों में सबसे आगे

है। जिस प्रकार 'उत्तर रामचरित' की रचना करके भवभूति ने करुणा रस के महत्व को नये सिरे से स्थापित करने का दृष्टिकोण प्रदान किया था, उसी प्रकार माँ यशोदा का चित्र प्रस्तुत करके सूरदास ने केवल वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा ही नहीं की वरन् इस बात को सिद्ध कर दिया कि वात्सल्य के शृंगार की भाँति संयोग और वियोग दोनों पक्ष हैं। पुत्रवती जननी के प्रेमोल्लास, उसकी इन्द्रधनुषी आकांक्षाओं, उसकी वासन्ती अभिलाषाओं, उसकी भाव हिलोलों की थिरकन को शब्द-चित्रों में उतारने में सूरदास ने अपनी कवि की उपाधि को सार्थक कर दिया है। यदि वे इतना ही लिखकर अपनी लेखनी को विश्राम दे देते तो भी इस विषय में उनकी समकक्षता का दावा करने वाला शायद ही कोई कवि होता। परन्तु उन्होंने तो वियोगिनी माता का करुणार्द्र चित्र भी खींचा है, और ऐसा खींचा है जिसने 'सूरसागर' को सचमुच सागर बना दिया है।

कृष्ण की उपस्थिति में माता यशोदा क्या-क्या अभिलाषाएं करती हैं, उनमें से एक देखिये—

मेरे नान्हरिया गोपाल हो, बेगि बड़ो किन होहि।
इहि मुख मधुरे बैन हो, कब 'जननि' कहोगे मोहि।
यह लालसा अधिक दिन दिन प्रति कबहूँ ईस करै।
मो देखत कबहूँ हँसि माधव पग द्वै धरनि धरै।
हलधर सहित फिरैं जब आँगन चरन सबद सुनि पाऊँ।
छिन-छिन छुधितजानि पय कारन हौं हठि निकट बुलाऊँ।
आगम निगम नेति करि गायो सिव अनुमान न पायो।
'सूरदास' बालक रसलीला मन अभिलाष बढ़ायो।

इसी वियोगिनी यशोदा के मुख से फिर सूरदास ने ऐसे असंख्य पद कहलाए है—

मेरे कुंवर कान्ह बिनु सब कुछ, वसेहि धरयो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेत गहै।
सूने भवन जसोदा सुत के, गुनि-गुनि सूल गहै।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वारिन उरहन कोउ न कहै।
'सूरदास' स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।

उपरोक्त उद्धरणों का आशय यह दिखाना भर रहा है कि सूरदास के पात्र बहुत सजीव और स्वाभाविक बन पड़े हैं तथा उन्हे एक दूसरे से पृथक अस्तित्व वाला माना जा सकता है। गीति-काव्यकार की दृष्टि से यह विशेषता और भी अधिक बहुमूल्य हो उठती है, जहाँ चरित्र-विश्लेषण के लिए सदैव स्थल-संकोच रहता है। फिर सूरसागर जैसे महाग्रंथ मे पात्रों की विरलता भी नही है। पात्र-संकुल और चरित्र-बहुल चित्रो मे वैयक्तिक विशेषता का निर्वाह जैसा कठिन कार्य भी कवि के लिए क्या दूसरा हो सकता है? सूरदास ने इस कार्य का बड़ी पटुता से निबाहा है और ऐसा करते हुए भावुकता के अभाव की कहीं भी शिकायत नही होने दी है। अपने परिमित और परिचित क्षेत्र मे उन्होंने अपनी प्रतिभा को खुलकर खेलने दिया है। आश्चर्य होता है कि सगुण-लीला की व्यंजना मे जिस प्रकार उन्होंने अपने पदो को फिट बैठा दिया है उसी प्रकार ब्रजभाषा मे मिसरी घालने का श्रेय प्राप्त किया है। अपनी मधुर-पीड़ा को, मादक व्याकुलता को और सुन्दर भावानुभूति को

अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने भाषा को घिस-माजकर वह रूप प्रदान किया है जो आकर्षण और माधुर्य में अनुपम है । इससे पूर्व व्रजभाषा का ऐसा मनोहर रूप कभी देखने सुनने में नहीं आया था। सूर द्वारा सन्निविष्ट लालित्य के कारण ही व्रजभाषा परवर्ती कवियों का हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर सकी । श्रीकृष्ण की मुरली में जो मादक स्वर-सामंजस्य था मानो उनकी लीला गाने के लिए उसी को सूरदास ने व्रजवाणी में घोल दिया हो। जिस प्रकार कृष्ण का वंशीवादन सुनकर गोप और गोपियां, गौयें और पशु पक्षी, कालिन्दी और करील कुञ्ज मुग्ध और आत्मविस्मृत हो जाते थे उसी प्रकार सूर के सगुण पदों को सुनकर सारा देश विमुग्ध और विसुध होगया । जहां देखो वहीं ये पद कण्ठ-कण्ठ से प्रतिध्वनित होने लगे। सूरदास की सार्वजनीनता इस बात की घोषणा करती है कि यही आत्मा के संदेश को वाणी देने वाला कवि है, यही हृदय की आकुलता को संगीत में ढालने वाला अमर गायक है। इसी कारण हिन्दी साहित्य गौरवशाली और विश्व-विश्रुत हुआ है । व्रज-साहित्य के अधिष्ठाता सूर इन गुणों के कारण स्वयं अमर होगये हैं और अपने साथ ही अमर कर गये हैं उस विभूति को जिससे आज भी हम वैभव-सम्पन्न हैं।

कविवर बिहारी

काव्य-विषय की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों में भूषण सबसे पृथक खड़े हैं, इसी प्रकार शैली की दृष्टि से बिहारी अपना निराला ही स्थान रखते हैं। 'सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर' कह कर किसी ने कविवर बिहारी की इस शैली की ओर इशारा किया है। काव्य-विषय को लेकर देखा जाय तो बिहारी की कल्पना अपने युग की सीमा से बँधी है। वे उसके बाहर नहीं जा सके। उनके सम्मुख जो परिस्थिति थी, वे उसी के भीतर रहे, परन्तु उनका व्यक्तित्व उनकी कृति पर अपनी एक बेजोड़ छाप छोड़ गया है जो तब से बराबर काव्यरसिकों के लिए ईर्षा की वस्तु रही है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं, कि बिहारी सिर से पैर तक एक चतुर शिल्पी और कुशल कलाकार थे। उन्होंने अपने सात सौ दोहों के द्वारा हिन्दी साहित्य को सूक्तियों का एक अपूर्व भंडार प्रदान किया है। यही सब देख कर उनके समालोचकों को सन्देह करना पड़ा कि शायद बिहारी ने अपनी संपूर्ण कृति में से सतसैया में केवल चुने हुए अच्छे अच्छे दोहे ही दिए हैं। कुछ भी हो अपने प्रस्तुत रूप में बिहारी की अमर कृति उनकी 'सतसई' यह बताने के लिए काफ़ी है कि वे वे ही हैं।

हम आज की दृष्टि से बिहारी की भाव-धारा का आनन्द नहीं ले सकते और न उनकी विचार-धारा से सहमत हो सकते

हैं। हमें उनकी कला का रस-पान करने के लिए अपनी परिस्थितियों के बाहर बिहारी की दुनियाँ में पहुँच जाने की आवश्यकता है। जब तीन सौ वर्ष पुराना चश्मा अपनी आँखों पर लगा कर उन्हें देखें तभी हम उनके काव्य का समुचित आनन्द ले सकते हैं। कहा जाता है, कि बिहारी के इस एक दोहे ने वह कार्य कर दिखाया था जो मन्त्रियों की मन्त्रणा भी कर सकने में असफल रही थी —

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो लग्यो, आगे कौन हवाल।

इस कथन के ऐतिहासिक तथ्य में संदेह भले ही हो परन्तु इससे यह बात तो प्रकट है, कि उनके दोहे करामाती अवश्य थे। वे अपने चुटीलेपन से पाठकों और श्रोताओं को मर्माहत किए बिना न रहते थे। अर्थगर्भित सूक्तियाँ लोगों को विचलित कर देती थीं। उनकी अन्योक्तियों में व्यक्तियों की जीवन-धारा को प्रभावित करने की शक्ति थी। यह बात छिपी नहीं है, कि इसी कवित्व की बदौलत राज-दरबार में उनकी रसाई और प्रतिष्ठा थी। इसी के द्वारा उन्होंने धन और आजीविका पाई थी। उनकी कविता इस योग्य समझी जाती थी, कि उसके बदले में उन्हें जीवनयापन के समुचित साधन जुटाने की चिन्ता से मुक्त करने लायक स्थिति में पहुँचा दिया गया था। उनके आश्रयदाता उनकी प्रतिभा के कायल थे। कला और साहित्य की रुचि उनमें जैसी भी रही हो, पर रुचि अवश्य थी, और बिहारी की कविता उनकी रुचि की तृप्ति करने का गुण रखती थी। यह तो हुआ एक दृष्टि-कोण जिससे बिहारी की

प्रतिभा का मूल्यांकन किया जा सकता है। दूसरा प्रमाण यह भी है, कि विद्वानों और काव्यरसिकों में बिहारी की बड़ी धाक थी। सतसैया का उनका पेटेंट मार्का लोगों में इतना प्रचलित हुआ कि पिछले कितने ही कवियों को उसकी नकल करनी पड़ी। अनेक सतसइयां बनीं पर नकल नकल ही रहीं। असल के आदर-मान को कोई प्राप्त न कर सकीं। बिहारी का सौन्दर्य कोई न ला सकीं। उनके दोहों की अर्थ-गम्भीरता काव्यरसिकों को सदा आकर्षित करती रही। वे उसमें डूब डूब कर, गोते लगा कर, नित्य नया आनन्द प्राप्त करते रहे। और ज्यों ज्यों आनन्द की उपलब्धि होती गई त्यों त्यों वे उसमें और अधिक अपने को निमग्न करते गये। फल यह हुआ कि टीकाओं पर टीकाएं व्याख्याओं पर व्याख्याएँ, तैयार होती गईं। सतसई के अनेक संस्करण हुए। उसके ऊपर गद्य पद्य में अनेक भाष्य हुए। एक भाषा-कवि के लिये इस तरह का तूफाने—बदतमीज़ी संस्कृत पण्डितों को सहन न हुआ। उसका भंडा फोड़ करने के लिये उन्होंने भी बिहारी की उस सतसैया को देखा। आशा के विपरीत उसे पाकर वे भी मुग्ध हो गये, और संस्कृत पाठकों के लिये उसके छन्दोबद्ध अनुवाद किये गए। उर्दू, फ़ारसी और गुजराती भाषा भाषियों में भी सतसैया के पढ़ने की रुचि हुई। उनके लिए उन उन भाषाओं में भाषान्तर किये गए। यह सब कुछ पहले ही हो चुका था। नवयुग के उदय के साथ साहित्य में नई नई प्रेरणाओं, नई नई आकांक्षाओं और नई विचार-सरणियों को स्थान मिला। काव्य और साहित्य की श्रेष्ठता नवीन आलोचना-पद्धति से निर्णीत की जाने लगी।

इस काल मे पिछले श्रृंगारी कवियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया। उन पर धूल भी उछाली गई। उनके साहित्य को कूड़े की टोकरी मे फेंक देने का प्रचार किया गया, पर धन्यवाद है पंडित पद्मसिंह शर्मा को कि उन्होने फिर से 'बिहारी जिन्दाबाद' के नारे लगाये और लोगो को बता दिया कि रीतिकालीन साहित्य भूल जाने की वस्तु नही है। इसमे बिहारी जैसे रससिद्ध कवीश्वर मौजूद हैं। उन्होने प्राकृत, संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं के कवियो के काव्य के साथ बिहारी की रचनाओं की तुलना करके बताया कि दूर के ढोल जितने सुहावने लगते हैं, उतने वे वस्तुतः नही होते अपने पास की, अपने घर की वस्तुओं को संभालो और देखो कि इन चिथड़ो मे कितने रत्न छिपे पड़े हैं। शर्मा जी की 'बिहारी सतसई की भूमिका' ने कुछ दिन फिर नई प्रेरणा के साथ बिहारी की रचनाओं का पठन-पाठन प्रचलित करा दिया। इसके फल स्वरूप बिहारी रत्नाकर' जैसे सुसंपादित ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हुआ। और भी कितनी ही छोटी-बड़ी टीकाएँ और व्याख्याएं निकलीं। 'वीर-सतसई' और 'दुलारे दोहावली' इसी प्रेरणा से अनुप्राणित होकर अपने-अपने रूप को प्राप्त हुईं। इस प्रकार बिहारी की सतसइया का हिंदी साहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव है और इस दृष्टि से बिहारी कोई साधारण कवि नही ठहरते। डाक्टर ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने बिहारी के सम्बन्ध मे लिखा है, कि 'मेरी निगाह मे किसी यूरोपियन भाषा मे बिहारी की जैसी रचनाएं नही है।'

बिहारी श्रृंगारी कवि कहे जाते है और ये श्रृंगारी कवि है

भी। परन्तु उन्होंने अन्यान्य विषयों पर भी अपनी लेखनी उठाई थी। मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के मुकाबले में देव को खड़ा करके जो विवाद उठाया था उससे अच्छा ही फल हुआ। बिहारी और देव दोनों कवियों की काव्य विशेषताएं पाठकों के सामने पहुँची और यह बात निर्विवाद रूप से मानी जाने लगी कि रीति काल भी कला और साहित्य की दृष्टि से एक अनोखा समय रहा है। बिहारी का काव्य मुख्य २ सभी कवियों की अपेक्षा थोड़ा है, परन्तु कीमती है। यहां उन की दो चार विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करके हम इस छोटे से निबंध को समाप्त करेंगे।

बिहारी की रचना मुक्तक काव्य की श्रेणी की है। उसके प्रत्येक दोहे का भाव एक संपूर्ण परिस्थिति का चित्र उपस्थित करता है। ऐसे भावात्मक चित्र पाठक की कल्पना और भावुकता को प्रेरित करने में सहायक होते हैं। इंगितार्थ पर ज्यों ज्यों उसका ध्यान जाता है भाव का क्षेत्र त्यों त्यों विस्तृत होने लगता है। बिहारी एक भावुक कलाकार थे। उनकी भावुकता उन्हें भाव के मर्म तक पहुंचा देती थी और उनकी कला-कुशलता उसके लिए उपयुक्त शरीर की रचना कर देती थी। इस लिए भाव, भाषा और शैली प्रत्येक दृष्टि से उनके दोहे खरे उतरते थे। बिहारी को लाक्षणिक शैली अत्यंत प्रिय है। उनकी उक्ति कभी अपने स्वाभाविक बांकपन से रहित नहीं होती। सीधी बात सीधे ढंग से कहना उन्होंने सीखा ही नहीं। नीचे के दोहे देखिये—

ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय ।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय ।

\+ + + +

तिय कित कमनैती पढी, बिन जिह भौंह कमान ।
चल चित बेझे चुकत नहि, बंक बिलोकनि बान ।

\+ + + +

अलि इन लोयन को कछु, उपजी बड़ी बलाय ।
नीर भरे नितप्रति रहै, तऊ न प्यास बुझाय ।

\+ + + +

मोहू दीजै मोषु, जो अनेक अधमन दियौ ।
जौ बाँधेही तोषु, तो बांधौ अपने गुनन ।

\+ + + +

कन देवो सौंप्यो ससुर, बहु थुरहथी जानि ।
रूप रहंचटे लग लग्यो, मागन सब जग आनि ।

बिहारी के ऊपर उनके युग की छाप है, परन्तु इनमे स्वतंत्र उद्भावना की अद्भुत क्षमता भी है। अपनी इस क्षमता से जहाँ कहीं उन्होने काम लिया है वहां उनकी रचनाएं शाश्वत जीवन-धारा के मर्मोद्घाटन मे बड़ी सुन्दरता से समर्थ हुई है । 'आलंकारिक चमत्कार' पर मुग्ध न होकर यदि वे भाषा की 'सत सारी' मे अपनी कविता कामिनी को देखना पसंद करते और अपनी अन्तर्स्पर्शिनी भावुकता को जीवन की मर्म-पीड़ा

के चित्रण मे लगाते तो वे जो कुछ हैं उससे भी महान होते। कही कहीं ऐसे स्थल भी है जहा उनकी स्फीत वाग्धारा, उनकी आलंकारिकता को लिये हुए उनकी भाव-गंगा में जा मिली है, वहां बिहारी केवल दोहाकार ही नहीं रह जाते, वे जीवन संगीत के गायक बन जाते हैं। उनमे युग युग की भावनाएं सजग होकर सिमकने लगती हैं। सुदूर अतीत की अनुभूति मूर्तिमान होकर अपने भग्न हृदय को खोल कर रख देती है। देखिये बिहारी के इस छोटे से दोहे मे किन पुरातन युग से अब तक की विरह वेदना व्यक्त है—

> सघन कुंज-छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
> मन ह्वै जातु अजौं वहै, वा जमुना के तीर।

यमुना और उसके तटवर्ती कुंज-कुटीरों के प्रति हिन्दू जीवन, हिन्दू साहित्य, हिन्दू दर्शन और हिन्दू हृदय कितना अधिक समर्पित है, कितनी सुकोमल और व्यापक भावनाओं का भंडार उसकी चर्चा के साथ संलग्न है, उन सबको अपने एक ही स्पर्श से स्फुरित कर देने के लिए बिहारी की ये दो पंक्तियां पर्याप्त हैं। काश बिहारी ऊहा और अतिशयोक्ति के फेर में कम पड़कर सर्वत्र इसी प्रकार भावामृत की वर्षा कर सकते!

काव्य-कोकिला मीरां

उस समय हिन्दी-साहित्य के कानन में अचानक बसन्त का प्रादुर्भाव हुआ था। बसन्त के उस प्रथम प्रभात में ही रोम-रोम पुलकित हो उठा था। फूल महक उठे थे। पत्तियाँ स्निग्ध हो गई थीं। शाखा प्रशाखाओं से प्रेमालाप करने लगी थी। कण-कण से संगीत फूट पड़ा था। प्राण प्राण से रागिनी बज उठी थी। अन्धे सूरदास ने आकुल कंठ से अपनी कातर स्वर-लहरी में गाया था—"छबीले, मुरली नेकु बजाउ।" उनके साथ ही ब्रजमंडल के अणु-अणु से, वृन्दावन के कुञ्ज-कुञ्ज से, कवि कोकिलों की मधुर मादक तान गूँज उठी थी। प्रेम की उस काव्य-वीणा से हृदय-तंत्री का तार-तार झनझना उठा था। भक्ति की उस सरिता में सभी कुछ रसमग्न हो गया था। प्राणों के इस आवेग की मूलधारा अतीत-काल की गिरि-गुहा से प्रस्रवित होकर आ रही थी। वह उतनी ही पुरानी थी जितना मानवहृदय। ऋग्वेद में, उपनिषद् में, श्रीमद्भागवत में, नाना सन्तों, भक्तों और उपासकों में और कवियों में भी उसकी परंपरा मिलती है। कहीं बीज रूप से कहीं अंकुर और कहीं पुष्प रूप में। जयदेव ने 'कुञ्ज-कुटीरे जमुना तीरे वसति वने वनमाली' कह कर जब टेर लगाई थी और विद्यापति ने जब 'नन्दक नन्दन कदंबक तरुतर धिरे धिरे मुरली बजाव।' गाया था तब वे उसी उपास्य की ओर भक्ति-

सरिता को बहा ले जाना चाहते थे। उस समय तक वातावरण तैयार नही हुआ था। लोक-हृदय और लोक-जीवन उसकी सरसता में अपने आप को लीन नही कर सका था। बाद को वैष्णव परंपरा ने, जिसमे साम्य-भावना का आधिक्य था, उसे अपना कर नये सुर और नये कण्ठ मे गाया तब प्रेम और भक्ति की उस तान मे बहने से बहुत कम लोग बचे। सूफी प्रेमानुभूति ने भी इस प्रेरणा को उद्बुद्ध करने मे कम योग नही दिया। निवृत्ति परायण जैन और बौद्धदर्शनों की परंपरा ने लोक-हृदय को उस भूमि मे परित्राण कर दिया था। अतृप्त आकांक्षाएं दबी पडी थी। अवरुद्ध आवेग के कारण अनेक विकृतियाँ पैदा हो गई थीं। आज उन सब को बहा ले जाने का सुयोग उपस्थित हुआ। लौकिक वासनाएँ और विकृतियाँ प्रेम और भक्ति की धारा मे पूत-पावन हो गई।

इसी नवयुग के प्रभात मे दिशाओं को गुंजरित करने वालों में काव्य-कोकिला मीरॉबाई भी एक थीं। अन्य भक्त कवियों से उनकी वाणी मे एक ऐसी विशेषता है जो उनके सिवा और किसी म नहीं है। 'सूरदास' इस भक्ति-संगीत के आचार्य थे। उन्हें सबका शिरोमणि माना जाता है। मीरां की प्रेम-पीडा उनसे भी अनोखी है। इसका कारण है। सूरदास ने विनय के पदोको छोडकर अन्यत्र कवि अथवा गायक-भक्त रह कर अपने राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। उन्होंने माता, सहेली, सखा, पिता और प्रेमिका सभी संबंधो का निर्वाह किया है, परन्तु भक्त कवि रह कर। आत्मनिवेदन के रूप मे उनकी वाणी का प्रवाह बहुत कम बहने से उसमे वह प्रखर

वेग और वह तीव्र बेचैनी नहीं है जो मीरां में । मीरां राधा और गोपियों के प्रेम की कथा नहीं कहती है। वे ब्रजांगनाओं के विरह के गीत नहीं गाती हैं । वे सूर आदि अन्य कवियों की भांति अपने मुरलीमनोहर की रास-क्रीड़ा को केवल देखने वाली नहीं हैं । उन्हे राधा और चंद्रावली बन कर कृष्ण की प्रीति का उलहना भी नहीं देना है । वे तो अपने ही सांवरिया के प्रेम की दीवानी हैं । उनकी प्रेम-पीड़ा अपनी प्रेम-पीडा है । उनकी लगन अपनी लगन है । अपने बचपन से उन्होंने गिरधर गोपाल के प्रति अपने को समर्पित कर रक्खा है। उसी प्रेम की कसक को वे लिए फिरती हैं । वे अपने उसी प्रियतम की खोज में दर-दर, वन-वन घूमती हैं, उसी के गीत गाती हैं। उसी को अपने प्रेम का अर्घ्य चढ़ाती हैं । उसी के सामने नाचकर और कभी गाकर उसे रिझाती हैं । स्वानुभूति रूप मीरां का प्रेम होने से उनके पदों मे उसकी व्यंजना भी बहुत तीव्र हुई है । उसमें कहीं कृत्रिमता नहीं है । कहीं शिथिलता नहीं है । कहीं परत्व या दूरत्व नहीं है । निजत्व की छाप होने से उसकी मार्मिकता बढ़ गई है । इसीलिए उनके काव्य मे संगीत की मधुरता विशेष है । वह वस्तुतः उनके हृदय की झनकार है या उनके मानस का रुदन है ।

मीरां के साधनापथ में पारिवारिक और सामाजिक अनेक व्यवधान खड़े हुए हैं । उनकी चोट से उनकी वाणी मे क्रन्दन की कातरता और अधिक समा गई पर ज्यों-ज्यों वे अपने उपास्य के रंग मे रंगती गई हैं, त्यों त्यों उनके अनुराग का रंग भी गहरा होता गया है । यहां तक कि उनके लिए

ब्रजमण्डल मे कृष्ण को छोडकर कोई दूसरा पुरुष ही नहीं रह गया। उनके पदो की सहज-सरल भाषा बताती है कि वे कविता लिखने के लिये अपनी रचनायें नहीं करती थीं, अपने सांवलिया को अपने दिल का दर्द गाकर सुनाती थीं।

> हेरी मैं तो दरद दिवानी होइ, मेरो दरद न जाणे कोइ।
> घाइल की गति घाइल जाणे, की जिण लाई होइ।
> जौहरि की गति जौहरी जाणे की जिन जौहर होइ।
> सूली ऊपर सेज हमारी सोणा किस विध होइ।
> गगन मंडन पैं सेज पिया की किस विध मिलणा होइ।
> दरद की मारी बन-बन डोलूं बैद मिला नहिं कोइ।
> मीरां की प्रभु पीर मिटैगी जद बैद संवलिया होइ।

अपने उसी सँवलिया की जोगिन बनकर मीरां अलख जगाती फिरती हैं। उसकी प्राप्ति मे ही उनके प्रेम का अवसान है। अपने उस प्रियतम की मीरां ने जो मूर्ति हृदय मे अंकित कर रक्खी है, यह वही मूर्ति है जो श्रीमद्भागवत मे या व्रज के साहित्य मे अंकित की जा चुकी है। मीरां उसकी कहीं कहीं साकार और कहीं निराकार रूप मे आधारना करती हैं। परन्तु उन्हें साकार मूर्ति ही अधिक प्रिय प्रतीत होती है। उसे उन्होंने बड़ी स्पष्टता से अंकित किया है—

> बसो मोरे नैनन में नंदलाल।
> मोहनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने विसाल।
> अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजंती माल।

क्षुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई भगत बछल गोपाल।

मीरां के अनुराग की अनन्यता उनके इस पद में कैसी मार्मिकता के साथ अंकित है, देखिए—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
छाँडि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिंग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई।
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई आणँद फल होई।
भगति देखि राजी भई जगत देख रोई।
दासी मीराँ लाल गिरधर तारो अब मोही।

इस निश्छल कथन में उनके हृदय की सचाई व्यक्त है। भाव-प्रवणा अनुरागिनी नारी की स्वाभाविक आकांक्षा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती है? जिस के लिये लोक-लज्जा और कुल-मर्यादा सबका तिरस्कार करके मीरां निकल पड़ी थीं, साधु संतों का साथ किया था, जिसके प्रेम की बेलि हृदय के जल से अभिसिंचित होकर फैली गई थी, उसी की छाया में आठों पहर वह हृदय की वंशी बजाया और प्रेम की रागिनी गाया करती थी। मीरा के विरह के सम्बन्ध में उनके प्रसिद्ध समीक्षक श्रीयुत् 'माधव' का कहना है कि "मीरां का विरह गहरा अधिक है व्यापक कम। उसमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अव-

काश ही। मीराँ का विरह उस स्त्री के विरह के समान है जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिल कर, अधरों पर चुम्बन का दाग छोड़ कर, सदा के लिए कभी भी न लौटने के लिए परदेश चला गया हो तथा जिसे अपनी प्रियतमा की सुधि लेने की भी सुध नहीं है। जब-जब मेघ घिर आते हैं और रिमझिम बूंदें बरसने लगती है तब-तब साजन की सुधि हरी हो जाती है, ताज़ी हो जाती है और हृदय डाँवाडोल हो उठता है। फागुन में जब-जब सखियाँ धमाचौकड़ी मचाने लगती है, रँगरलियाँ करने लगती है और प्रियतम से मिलने की तैयारी करने लगती हैं उस समय मीराँ के हृदय में अपने परदेसी (साजन) के लिए एक गहरी व्यथा उमड़ आती है। मीरां का दुःख तो एक अथक कहानी है। उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट ज्वलन्त उदाहरण है। शब्दों से दुःख को नाप नहीं जा सकता। वह केवल अनुभवगम्य है।"

मीराँ अपने प्यारे के रँग मे इस कदर डूबी हुई है कि उसके लिए उन्हें कहीं जाने की आवश्यकता भी नही, चिट्ठी भेजने की जरूरत नही। वे उसकी मूर्ति को अपने हृदय में ही प्राप्त कर लेती है—

मै गिरधर रँगराती, सैयाँ मै गिरधर रंगराती।
पचरङ्ग चोला पहिर सखी मै झिरमिट खेलन जाती।
ओरिह झिरमिट मा मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख-लिख भेजे पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुं आती-जाती।

उनके नैनों मे अपने प्रियतम का जो रूप समा गया है, उस पर उनका जीवन सर्वस्व निछावर है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उससे अधिक प्रिय हो। सारे संसार की लोक-लज्जा भी उसके प्रेम पर निछावर है—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढी मेरे माधुरी मूरति, उर बिच आन गड़ी।
कब की ठाढी पंथ निहारूं, अपने भौन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखूं, जीवन मूर जड़ी?
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहै बिगड़ी।

मीरां ने अपने लिए सरस भक्ति को चुना है। अपने गिरधरलाल से वे इसी की याचना करती हैं। उन्हें प्रसन्न करने के लिए लोक-जीवन की मर्यादा जाय तो जाय।

मैं तो सॉवरे के रंगराची।

साजि सिंगार बॉधि पग नूपूर लोकलाज तजि नाची।
गई सुमति लई साधु की संगति भगत रूप भई सॉची।
गाय-गाय हरि के गुन निसदिन काल-व्याल सो बाची।
उण बिन सब कुछ खारो लागत और बात सब काची।
मीरां श्री गिरधरनलाल सूं भगति रसीली जॉची।

प्रेम और भक्ति की इसी अनन्यता के कारण मीरां को संसार में और कुछ अच्छा नहीं लगता। रात दिन उन्हें एक ही ध्यान रहता है। वे अपने आराध्य के ध्यान में लवलीन रहती हैं। मिलन की आशा से ही जीती हैं।

पिया बिन रह्यो न जाय।

तन मन मेरो पिया पर वारूं बार-बार बल जाइ।

निस दिन जोऊं बाट पिया की कब रे मिलोगे आइ?

मीरा के प्रभु आस तुमरी लीज्यो कंठ लगाइ।

अपने आराध्य से मुह मोड़ कर, रूठ कर, मीरां नही बैठती हैं। मान तो उन्होने अपने साँवरे पर निछावर कर दिया है। तो भी उस नट-नागर की रसीली वृत्ति का कभी कभी ध्यान आ ही जाता है। मीरां जब देखती है, कि ब्रज के युवती समाज मे जो दौड़ा चला जाता था, साथ-साथ रास-क्रीड़ा करता था, हाथा-पाई तक कर बैठता था वह मुझे क्यों भूल रहा है? क्यों उसकी मेहर मेरे ऊपर नहीं है, तभी वे गुनगुना उठती हैं—

कान्ह म्हांसू ऐंडो डोलै हो।

औरन सो खेलै धमार म्हासूं मुख हूं न बोलै हो।

म्हारी गलिया ना फिरै, वाके आगन डोलै हो।

म्हारी अँगुली ना छुवै, वाकी बहियाँ मोरै हो।

म्हारो अंचरा ना छुवै, वाकी घूंघट खोलै हो।

मीरां को प्रभु सावरो, रंग रसिया डोलै हो।

मीरां के विरह के पद बड़े मर्म-भेदी हैं। इतनी, आकुलता, इतनी पीड़ा, इतनी व्यथा उनमे भरी है कि जो शब्दो से व्यक्त करनी कठिन है। जिसने इस व्यथा को अनुभव किया है उसका हृदय कितना भावप्रवण, कितना कोमल रहा होगा? तो भी उनके विरह-निवेदन मे अत्युक्तिपूर्ण या दिखाऊ कुछ भी नहीं

प्रतीत होता। अन्तर की स्वाभाविक बात कही गई है। इसीलिए मीरां को कलाकार कहना व्यर्थ है। अपनी कला-कुशलता दर्शाने के लिए, या वाणी का वैभव दिखाने के लिए उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। उन्होंने तो अपनी दशा का अनुभावित चित्र खींच कर रख दिया है। अपनी आत्मा का चित्र प्रस्तुत करने में वे विश्वमानव की आत्मा का चित्र खींच गई हैं, यह तो उन्हें तब मालूम हुआ होगा जब गली गली में, घर-घर में उनके पद गूँज उठे होंगे। विश्वमानव की चिर-अतृप्त आत्मा को मीरां के पदों में जैसे अपनी ही भावव्यंजना मिल गई। देश-काल जिस शाश्वत भावना को प्रभावित करने में असमर्थ है, उसका स्वागत सारे देश में, काठियावाड़ से लगा कर बंगाल तक अनायास हुआ हो तो कोई अपूर्वता नहीं। मीरां की वाणी इसी कारण आज भी आत्मा के संगीत में गूँज रही है। आगे भी वह कब तक चिर-नवीन रहेगी यह कहना कठिन है। उसने इन दो-चार पदों से इस बात का थोड़ा-बहुत अनुमान लगाया जा सकता है:—

(१) नातो नाम को म्हासूं तनक न तोड्यो जाइ।
पाना ज्यूं पीली पड़ी रे लोग कहे पिण्ड रोग।
छानें लांघण मैं किया रे, राम मिलण के जोग।
बावल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई बांह।
मूरख बैद मरम नहिं जाने, करक करेजा मांह।
काढ़ि करेजा मैं धरूं रे, कागा तू ले जाय।
ज्यां देसां म्हारो पिव बसै, वे देखै तू खाइ।

(२) जोगिया होइ जग ढूंढ सूं रे म्हारा रावलियारी साथ ।
सावण आवण कह गया बाला कर गया कौल अनेक ।
गिणता-गिणता घिस गई रे म्हारा आँगलियारी रेख ।
पिव कारण पीली पडी बाला जोबन वाली वेस ।
दास मीरा राम भजि के तन मन कीनो पेस ।

(३) चालो वाही देस पीतम रावा चालो वाही देस ।
कहो कसूमल साडी रँगवाँ कहो तो भगवाँ भेस ।
कहो तो मोतियन माग भरावाँ कहो छिटकावाँ भेस ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुणज्यो बिडद नरेश ।

इस प्रकार मीरा अपने आराध्य के प्रेम में मतवाली होकर सब कुछ भूल जाती है। उनके भाव विभोर हृदय से एक ही ध्वनि निकलती है—

या तन का दियना करौं मनसा करौं बाती हो ।
तेल भरावौं प्रेम का वारौं सारो राती हो ।

उनके लिए वह धरती स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है, जहा उनके जीवन प्राण की उपासना संभव है । उनके कण-कण में प्रियतम की अनुभूति होना उनके लिए स्वाभाविक है, तभी तो उनके मुँह से यह निकल सका—

जहँ जहँ पाँव धरूं धरती पर तहँ तहँ निरत करूं री ।

मीराँ पैतृक संस्कारों के कारण वैष्णव हैं । उनके पितामह राव दूदा परम वैष्णव थे। उनके चचेरे भाई वीरवर जयमल भी वैष्णव थे । मीराँ के सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुतियां और

उनकी अपनी विचार-धारा भी उन्हें वैष्णव ही सिद्ध करती है। परन्तु बचपन से, रावदूदा के समय से ही, उन्हें साधु-सन्तों का सत्संग प्राप्त होता रहा था। यह साधु-सगति उनकी कभी नहीं छूटी। घर छूट गया, परिवार छूट गया, राजमहल छूट गया पर गिरधर गोपाल का प्रेम और साधु-संगति एक क्षण को न छूटी इन दोनों मे से गिरधरगोपाल का प्रेम उनमे वैष्णव एलीमैंट का अस्तित्व बताता है और साधुसंगति तत्कालीन अन्य प्रचलित परंपराओ के प्रभाव को सूचित करती है। इसी आधार पर संभवत: मीराँ को रैदास की शिष्या स्वीकार किया जाता है। इसमें सन्देह नही कि मीराँ पर संत-परम्परा का खासा प्रभाव था। सूफी मत की देन मीराँ के प्रेम मे प्रत्यक्ष है। निर्गुणिएँ सन्तो के निराकार परमेश्वर से भी उनका परिचय है। गोरख पंथी तन्त्र साधकों और हठयोगियो की वाणी मे बोलना भी वे जानती हैं और कहीं कही 'सुन्न महल' 'अगम देश' 'त्रिकुटी' 'सुखमणा' आदि का उल्लेख करती है, जसे—

(१) ऊँची अटरिया, लाल किवरिया, निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहैं फूलन फूल कली।
सुमिरनकाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भरी।
सेज सुखमणा मीरा सोवै शुभ है आज घड़ी।

(२) नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ।
इन नैनन मेरा साहब बसता डरती पलक न नाऊँ री
रंगमहल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री ।

(३) चलो अगम के देस काल देखत डरैं ।

वहा भरा प्रेम का हौज हंस केला करैं ।

ओढण लज्जा चीर धीरज को घाघरो ।

छिमता कंकण हाथ सुमत को मून्दरो ।

दिल दुलड़ी दरियाव साच को देखड़ो ।

उबटण गुरु को ज्ञान जुगत को भूटणो ।

बेस हरि को नाम चूड़ो चित ऊजलो ।

जौहर सील संतोख निरत को घूंघरो ।

बिन्दली गज औ हार तिलक गुरु ग्यान को ।

सज सोलह सिणगार पहिर सोने राखड़ी ।

सावलिया सूँ प्रीत औरा सूँ आखड़ी ।

इसी 'अगम देश' 'अनहद की झनकार' और 'सुन्न महल' की चर्चा करने के कारण मीरां रहस्यवादिनी भी कही गई है, परन्तु वस्तुतः रहस्योन्मुख होने की उन्हें आवश्यकता बहुत कम है। उनका उत्साह और गंभीर प्रेम ही इतना अथाह है कि उसमे सब कुछ डूब जाता है। प्रकृति उससे अनभिषिक्त कैसे रह सकती है ? जहां पैर पड़े वहीं नाचने लग जाने की तथा कण कण मे, अणु अणु मे अपने आराध्य की प्रतीति की भावना से जिसका हृदय ओतप्रोत है उसकी अनुभूति उसके लिए रहस्यात्मक कैसे हो सकती है, हम प्रेम-प्रवञ्चकों के लिए उस की थाह लगाना अवश्य रहस्यात्मक हो सकता है। इसलिए

यदि हम मीरां को रहस्यवादिनी कहे तो कह सकते है। मीरां को तो पूर्ण विश्वास है—

मीरां के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहो जी धीरा
आधी रात प्रभु दरसन दैहै प्रेम—नदी के तीरा ।

अंधकारमयी रात्रि मे भी उस प्रेम—नदी का तट मीरां को तलाशना नही पड़ेगा । वे तो युग युग से उस सहेट से परिचित है । नित्य मिलनोत्सव मे सम्मिलित होने वाली आत्मा की इस विश्वस्त वाणी मे रहस्यवाद की उद्‌भावना मीरा के काव्य की कोई विशेषता नही हो सकती ।

मीरां की भाषा भी साधु—संग और देश-विदेश भ्रमण के प्रभाव से शून्य नही है । मारवाड़ मे उनका जन्म हुआ था मेवाड़ मे ब्याही थी । ब्रज के कुंजो से उनका परिचय था और द्वारकाधीश की वे चरण-सेविका थी । इस प्रकार उनकी भाषा मे मारवाड, मेवाड, ब्रज और गुजरात का रग स्पष्ट है । भाषाओं का इस प्रकार मिश्रण होते हुए भी उनके गीतो मे मधुरता की कमी नही है, शायद इसीलिए कि वे उनकी आत्मा के सगीत रूप मे निकले थे । रचे नही गये थे ।

— — —

घनानन्द

इससे पूर्व आलम और रसखान दो प्रेमी-हृदय कवियों की रसिकता का परिचय हम यथा स्थान करा चुके हैं। घनानन्द भी कुछ-कुछ उसी तरह का हृदय रखते थे। इसी लिए आलम और रसखान की भांति इनके सम्बन्ध मे भी एक प्रेम कथा प्रचलित है। आलम शेख रंगरेजिन के प्रेम में दिवाने थे। रसखान एक हाड़-मांस की काया पर रीझे थे। घनानन्द भी सुजान वेश्या पर निछावर थे। ये तीनो ही वासनात्मक प्रेम से विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र मे आये थे। सांसारिक सुरा पीकर स्वर्गीय प्रेमामृत उन्होने पान किया था। इन्होंने इसी काया मे स्वर्ग की छाया देखी थी। इतना होकर भी घनानन्द अपनी एक पृथक विशेषता रखते हैं। ब्रज और वृन्दावन में, गोकुल और बरसाने मे रह कर भी, जमुना के किनारे करील के कुञ्जों और तमाल एवं कदम्ब के नीचे विचर कर भी, गोपेश्वर नन्दलाल की भक्ति मे मतवाले होकर भी वे जीवन-पर्यन्त अपनी सुजान को भुला न सके थे। जीवन के अन्तिम क्षणों मे अपने रक्त से तकिये पर जो पंक्ति लिखी थी उसमे भी वे अपनी उस अनन्य प्रेयसी को भूल न सके थे। उस समय भी अपने आराध्य के रूप में उन्होंने उसी भाग्यशालिनी को याद किया था। कैसा उत्कृष्ट और एकान्त था वह प्रेम !

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान को।
कहि-कहि आवत छबीले मनभावन को,
गहि-गहि राखत ही दै-दै सनमान को।
झूठी बतियान की पत्यानी ते उदास ह्वै कैं,
अब ना घिरत घनआनद निदान को।
अधर लगे है आनि करिकै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को।

अपनी सुजान के रूप और प्रेम मे घनानन्द ने कन्हैया को सिद्ध कर लिया था। वे जिस प्रकार स्वार्थ से परमार्थ-साधना की ओर अग्रसर हुए थे, उसी कदर उनमे मस्ती बढ़ती गई थी और वे अन्त मे वैष्णव भक्त के रूप मे सर्वस्व त्यागी होकर विचरण करते थे। जब नादिरशाह के सैनिकों ने धन के लिए उन्हे आ घेरा और 'ज़र' तलब किया तो उन्होंने दो मुट्ठी रज उनकी ओर फेंक दी। परिणाम मे उन्हें प्राणों से हाथ धोना पड़ा। इससे जहां उनके हृदय की बेफिक्री विदित होती है, वहा प्रेम या भक्ति के आधार की दृढ़ता का भी पता लगता हैं। उसमे आठों पहर अपने आपको भुलाए हुए वे संसार की झंझटों से मुक्त रहते थे। इसी अनन्यता के पुजारी होने के कारण बाद-शाह मुहम्मदशाह के अनुरोध का उनसे पालन न हो सका। जो वस्तु सुजान की, सुजान के लिए थी, वह दूसरे के लिए कैसे हो सकती थी? बादशाह का कोप उसके सामने कुछ भी न था। दर-बार की आजीविका और दिल्ली का निवास भी क्या थे? प्यारी

सुजान, के प्रति अनन्यता के सामने स्वयं सुजान की भी कोई गिनती न थी। उस समय शायद घनानन्द स्वयं इस सत्य को जान न सके हों, पर राज-भय या वेश्या के कपट-प्रेम या और जिस कारण भी हो जब सुजान ने उनका साथ न दिया तो वे उनके वियोग की जिस आग को अपने साथ ले आये वह यज्ञ की अग्नि के भाँति अन्तरबाह्य को पवित्र करने वाली सिद्ध हुई। उसने एक विलासी दरबारी के बजाय ब्रज-भूमि को एक परम वैष्णव भक्त दिया, जिसने अपने आर्द्र कण्ठ से कुंज-कुटीरों मे और जमुना के उपकूलों पर प्रेम की हूक फूँक दी। इस वियोगी कवि मे सर्वत्र हृदय की मीठी कसक है। उसे वह सोते-जागते कभी नहीं भूलता है। कविता में घनआनँद नाम रख कर उसने अपने हृदय की बरसात को कभी न विस्मृत होने योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। बड़ी सरस-मधुर उक्ति में उसने कहा है—

पर काजहि देह कौ धारे फिरौ,
पर जन्म जथारथ ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान करौ,
सब ही विधि सज्जनता सरसौ।
घन आनँद जीवन दायक हौ
कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूं वा बिसासी सुजान के आँगन
मो अंसुवान को लै बरसौ।

वियोग शृंगार का बड़ा मार्मिक वर्णन इन्होंने किया है। उसमें हृदय की सचाई को व्यक्त किया गया है। प्रेम की खिल-

वाड़ से इनसे कोई वास्ता नहीं है। इसीलिए इनका विरह निवेदन लोक हृदय की शाश्वत व्यंजना के रूप में हुआ है। अत्युक्ति इसमें नहीं है। अस्वाभाविकता भी नहीं है। जो बात यह कहते हैं वह इनके अन्तरतम प्रदेश से निकलती है। अपने साथ वह असर लिए होती है। उसके वार से कोई सहृदय अपने को बचा नहीं सकता। देखिये—

(१) पहिले अपनाय सुजान सनेह सो,
क्यो फिरि नेह को तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मँझार,
दई गहि बांह न बोरिये जू।
घन आनन्द आपने चातक को
गुन बाँधिलै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस
विसास मैं यो विष घोरिए जू।

(२) कित को ढरिगो वह ढार अहो
जिहि मो तन आंखिन ढोरत हे।
अरसानि गही उहि बानि कछू
सरसानि सों आनि निहोरत हे।
धनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ
तब यों सब भांतिन भोरत हे।
मन मांहि जो तोरन ही तो कहौ
बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे?

(३) हमसों हित कै कित को हित हा
चित बीच वियोगहि बोय चले।
सु अखैवट-बीज लों फैलि पर्‌यो,
बन माली कहां धो समोय चले।
घनआनन्द छाये बितान तन्यो,
हमें ताप के आतप खोय चले।
कबहूं तिहि मूल तो बैठिये आय
सुजान जो हाथन रोप चले।

(४) जिनको नित नीके निहारति हीं,
तिनको अंखिया अब रोवति है।
पल पावड़े पायनि चायन सो
अंसुवान की धारनि धोवति है।
घनआनंद जान सजीवन को
सपने बिन पायेई खोवति है
न खुली मुंदी जानि परै कछु ये
दुखहाई जगे पर सोवति है।

(५) आस लगाय निरास भये सु करी
जग में उपहास कहानी।
एक बिसास की टेक गहाय
कहा बस जो उर औरहि ठानी।
एहो सुजान सनेही कहाय

दई कित बोरत हौ बिन पानी।
यों उघरे घनआनन्द छाय सु
हाय परी पहिचानि पुरानी।

इस प्रकार की रचनाएँ 'सुजानसागर' से आँख मूँद कर ली जा सकती हैं। एक एक पंक्ति मे कवि के हृदय की वेदना बोल रही है। कृत्रिम प्रेम का आडम्बर इनमे जरा भी नहीं है। यह अवश्य है कि प्रेम-वासना के धरातल से सर्वत्र ऊँचा नही है, कहीं कही तो वह अत्यन्त मांसल और ऐंद्रिय हो गया है। इस लिये कि कवि प्रेमाराधना के सब से निचले धरातल से चला है। निकृष्टतम दांपत्य प्रेम से उत्कृष्टतम भगवद्भक्ति तक की सुदीर्घ यात्रा की समस्त अनुभूतियाँ इस सागर मे भरी हैं। जिज्ञासु पाठक को उनमे एक ही बात देखनी चाहिए कि कवि जिस अवस्था मे भी रहा है, कृत्रिम नहीं रहा है। उसने उस अवस्था मे अपने हृदय को खूब सचाई से खोल कर दिखा दिया है और यह कि उसके हृदय का समर्पण अपने आराध्य के चरणों में चरम तन्मयता के साथ हुआ है।

(१) मृदु मूरति लाड दुलार भरी
अंग अंग विराजति रंग मई।
घनआनन्द जोबन माती दसा
छबि ताकत ही मति छाक दई।
बसि प्रान सलोनी सुजान रही
चित पै हित हेरत छाप दई।

वह रूप की रासि लखी तब ते
सखि आखिन के हटि ताप गई।

(२) गोरे झवा पहुंचानि विलोकत
रीझि रंग्यो लपटाइ गयो है।
पन्नन की पहुंचीन लखें
इन आभा तरंगनि मंग रयो है।
नील मनीन हिये लवनी
रुचि रूप मनी सुवनीन छयो है।
चारु चुरीन चितै घनआनंद
चित्त सुजान के पानि भयो है।

प्रेम के भाव और प्रभाव की कमी यहां नहीं है. केवल उसकी कोटि भिन्न है। यदि यह ज्वाला आरम्भ से ही उसमे न होती तो आगे चल कर जो उत्कर्ष दिखाई पडता हैं वह कभी सम्भव न होता। इस दृष्टि से इस वासनात्मक प्रवृत्तिका औचित्य भी सर्वथा मान्य हैं। वह हीन से हीन जीवन मे पड़े हुए प्राणी को उत्कृष्ट और उन्नत मार्ग का पथिक बनने की शुभ प्रेरणा देती है। वेश्यानुरागी घनानन्द परम वैष्णव हो सके, इसी कारण से। यदि उनका हृदय लौकिक प्रेम वासना के अनुपयुक्त होता, यदि वे सहृदय न होकर पाषाण हृदय होते, तो क्या कभी प्रेममयी भक्ति भावना के अधिकारी हो सकते ? विष को मथने से यदि अमृत-प्राप्ति की आशा हो तो कौन उसे त्याज्य ठहरायेगा ?

घनानन्द ने विशुद्ध ब्रजभाषा का जिस सुन्दर ढग से प्रयोग किया है वह देखते ही बनता है। इसके बाद भाषा की ओर ध्यान देनेवालों में पद्माकर ही एक हुए हैं। उनसे पहले के कवियो मे स्वच्छ, शुद्ध, मोठी और प्रसन्न भाषा शैली का विस्तार घनानन्द मे चरमोत्कर्ष को पहुंचा हुआ है। इन्होंने जिस प्रकार अपने हृदय के आवेगो को अपनी रचनाओं मे व्यक्त कर दिया है, उन्हें सजाया नही, उसी प्रकार भाषा को बनाने की विशेष चेष्टा नहीं की है। तो भी इनकी भाषा इतनी जोरदार और लाक्षणिक प्रयोगों से पूर्ण है कि उसकी सराहना किए बिना नही रहा जाता। इनकी भाषा और शैली का अनुकरण हम कई बड़े-बड़े कवियो म मिलता है जैसे पद्माकर, हरिश्चन्द्र और रत्नाकर। सवैया छद लिखने मे यह एक ही थे। उस छन्द मे इनकी भाषा और भावुकता एक प्राण होकर बही है। इनकी कविता के सम्बन्ध मे नीचे लिखे दो सवैये बहुत प्रसिद्ध है—

नेही महा, ब्रजभापा प्रवीन
औ सुन्दरताइ के भेद को जानै।
आगे वियोग की रीति में कोविद,
भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यो हियो,
बिछुरे मिले प्रीतम साति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै,
सो घन जू के कवित्त बखाने।

प्रेम सदा अति ऊंचो लहै
सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सबके मन लालच दौरै
पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखे रहै
ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनंद की
हिय आंखिन नेह की पीर तकी।

उनकी भाव और भाषा सम्पत्ति दोनों को दिखाने के लिये यहाँ हम उनकी कुछ पंक्तियां देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। आप देखगें कि अब तक जितने कवियो से आपका परिचय हो चुका है उन सबसे घनानंद निराले हैं। दीन और दुनियाँ, रीति और नीति किसी की उन्हे परवाह नहीं है। उन्हे एक ही भूख, एक ही प्यास है। प्रेम पपीहा की तरह उन्होंने एक ही रट जीवन भर रटी है। उससे एक क्षण को विश्राम या विराम उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया। उन्होंने अपने युवा-काल से प्रेम की अमराई के नीचे ही निवास किया है। वहीं रहे, बसे, नाचे और गाये हैं। दूसरी किसी दुनियां की चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की है। इतनी तन्मयता मे अपनी भावना में डूबने वाले प्रेमी साधकों मे घनानन्द का नाम तब तक अमर रहेगा जब तक उनका एक भी छन्द मौजूद है। दूसरे रीतिकालीन कवियों के साथ इस कवि का मेल मिलाना एक दम असंगत है।

तब हार पहार से लागत हे,
अब आनि कैं बीच पहार परे।

× × × ×

प्यास भरी बरसै तरसै मुख
देखन कों अँखिया दुखहाई।

× × × ×

अति सूधो सनेह को मारग है
जहा नैंकु सयानप बाक नहीं।

× × × ×

नित सावन डीठि सु बैठक में
टपकैं बरुनी तिहि बैलतिया।

× × × ×

सूने परे दृग भौन सुजान जे
ते बहुरें कब आय बसाइहौ ?

× × × ×

पौन सों जागत आगि सुनी ही
पैं पानी सों लागतआखिनि देखी।

× × × ×

जिनको नित नीकें निहारति ही
तिनको अँखिया अब रोवति है।

× × × ×

तुम्हे पाय अजी हम खोयो सबै
हमैं खोय कहौ तुम पायो कहा ?

× × × ×

जब तें तुम आवन औधि बदी
तब तें अंखिया मग मापति है।

× × × ×

रैन दिना घुटिवो करैं प्रान
भरैं अंखियां दुखियां भरना सी।

× × × ×

अरी जो बिधना ब्रजवास न देतो
न नेह को गेह हियो करतो।

× × × ×

अरु रूप ठगी अंखिया रचतो नहीं।
रुखियै डीठि सो लैं भरतो।

× × × ×

नैन किये नरजी दिन रैन
रती बल कंचन रूपहिं तौले।

× × × ×

दृग फेरिए ना अनबोलिए सो
सरसे ह्वै लगैं कत जीजिए जू।
रसनायक दायक हौ रस के,
सुखदाई ह्वै दु:ख न दीजिए जू।

घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ
बिनती मन मानी कै लीजिए जू।
बसिकै इक गाव में एहो दई
चित ऐसो कठोर न कीजिए जू।

हम भी यही कहेंगे कि घनानंद जीवन भर अपने नेत्रों को तुला पर कंचन-रूप तौलते रहे थे—प्रेम की हाट में हृदय का ही सौदा करते रहे थे। चतुराई, छल और स्वार्थ को उनकी दुनियां में स्थान नहीं था। वे सचमुच धन्य थे!

पद्माकर

भाषा और भाव-संस्कार की दृष्टि से कवियों का वर्गीकरण करें तो कुछ कवि ऐसे मिलेंगे जिन्होंने भाषा और भाव दोनों का वैभव हिंदी साहित्य को दिया है। ऐसे कवियों में गोस्वामी तुलसीदास और अन्धगायक सूरदास का नाम लिया जा सकता है। इनकी रचनाओं को भले ही कोई सांप्रदायिक कह कर इनके रचनाकाल को अन्धकार युग या नैशकाल का नाम दे, परन्तु हिंदी साहित्य इनके अपार ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकता। कितने ही राष्ट्रवादी कवि पैदा हो जायँ पर हिंदी-साहित्य सूर और तुलसी का साहित्य ही कहलायेगा। उनका भाव और भाषा-संपत्ति की देन इतनी ही महान है। दूसरी कोटि में वे कवि आयेंगे जिन्होंने भाव और विचारों की प्राञ्जलता से साहित्य-भंडार को भरा है। ऐसे कवियों में कबीर जैसे महामना परिगणित हैं। तीसरी कोटि में भाषा की ओर ध्यान देने वाले कवि हैं, और इस प्रकार के कवियों में पद्माकर का नम्बर बहुत पहिले आयेगा। इनसे पूर्व भाषा की ओर कवियों का ध्यान बहुत कम था। बिहारी जैसे स्वनाम धन्य कवियों को छोड़ कर देखें तो भाषा की एकरूपता कहीं भी न मिलेगी। मनगढ़न्त शब्दों की इतनी भरमार आरम्भ हो गई थी कि भाषा के जाल में से भाव को निकाल लेना कठिन था। पद्माकर ने और बातों में तो तत्कालीन प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया, पर भाषा

की प्राञ्जलता पर खूब ध्यान दिया था। यदि काव्य को जीवन के दर्पण मे देख सकने की प्रतिभा उनमे होती तो वे निश्चय ही महाकवि होते, भाषा पर उनके अधिकार को देख कर यह बात पूर्ण निश्चय और विश्वास के साथ कही जा सकती है। इनकी भाषा ने लोगों को इतना मोहित किया कि परवर्ती कवियों ने उसका अनुसरण करने मे अपनी अशक्ति और अयोग्यता का विचार तक छोड़ दिया। फल उल्टा ही हुआ। पद्माकर की विशेषताएँ तो उनकी शैली मे आ न पाई, पर अनुप्रासों की कृत्रिमता का बाहुल्य हो गया। पजनेस और ग्वाल आदि कवियों के काव्य मे इस विडम्बना के पूरी तरह दर्शन होते है। पद्माकर के सफल और सुन्दर अनुयायियों मे स्वर्गीय रत्नाकर ही विशेष उल्लेखनीय हैं।

पद्माकर राज-दरबारी कवि थे। उनका काव्य रीति काल की परम्परा से संलग्न था। उनके काव्य का विषय राज-कीर्ति या राजकीय विलास-भोग ही हो सकता था। कभी कभी राज्यो के पारस्परिक संघर्ष का अनुभव भी हो जाता था। इसलिए उनके काव्य का अधिकांश श्रृंगारमय है और वह श्रृंगार भी भक्तिपूत नहीं है। उसका सर्वाङ्ग लौकिक और वासनात्मक है। इसी छोटे से दायरे मे हाव-भावो की कलाबाजी उन्हे दिखानी पड़ी है। स्वकीया और परकीया नायिकाओ के प्रेम और अभिसार मे उनकी सारी प्रतिभा डूबी हुई है। उनसे तो हम यही सुन सकेगे—

सतरैबो करौ बतरैबो करौ
इतरैबो करौ कर्‍ो कोई नहीं।

'पद्माकर' आनँद नीबो करौ
रस लीबो करौं सुख सो उमहौं।
कछू अंतर राखो न राखो चहौ
पर या बिनती इक मोरी गहौ।
अब ज्यों हिय मे नित बैठी रहौ
त्यों दया करिके ढिग बैठी रहौ।

विषय-विन्यास कितना ही आज-कल की रुचि के विपरीत हो और कोई कितनी ही नाक-भौं सिकोड़े, परन्तु कवि की अभिव्यंजना शैली का लोहा स्वीकार करना ही पड़ेगा। इतनी सरलता और सुन्दरता से इतने स्वाभाविक प्रवाह मे, अपनी बात कहते बना कितनों से बन पड़ा है? शुद्ध, स्वच्छ और प्रवाहमयी वाग्धारा के लिए पद्माकर को ज़रा प्रयास नहीं करना पड़ता है। पर्वत शिखर से निर्मल निर्झर की भाँति उनकी वाणी का स्रोत फूटता है और कल-कल करता चला जाता है। उनमे शब्द झंकार द्वारा भाव बोध कराने की भी क्षमता है। मतलब यह कि भाषा पर विशेष और व्यापक अधिकार होने के कारण पद्माकर को अपनी प्रतिष्ठा के स्थापन मे अधिक सहायता मिली है। भावुकता अथवा कल्पना की शिथिलता को भाषा के वैभव और चमत्कार मे वे छिपा सके है।

वे मुख्यतः शृंगारी कवि हैं। मुख्यतः इसलिए कि उन्होंने शृंगार के अतिरिक्त वीररस और भक्ति पर भी रचनाएँ की है, किन्तु उनके हृदय की उमंग और उच्छ्वास उनके शृंगार वर्णन मे ही अपने पूर्ण यौवन पर है। इसलिए उनका शृंगार-निरूपण

चलैं गोल-गोली अतोली सनक्कैं।

मनौ भौर भौरैं उड़ाती भनक्कैं।

चली आसमानैं छुई वे प्रमानैं।

मनो मेघमाला गिलैं आसमानैं।

(२) तहँ दुहूं दल उमड़े, घन सम घुमड़े, झुकि-झुकि झुमड़े, जोर भरे।
तकि तबल तमंके, हिम्मत हंके, बीरबयंके, रन उभरे।
बोलत रन करखा बाढ़त हरखा, बाननि बरखा होन लगी।
उलछारत सेलैं, अरिगन ठेलैं, सीननि पेलैं रारि जगी।
बंदीजन बुल्ले, रोसन खुल्ले, डगमग डुल्ले, कादर हैं।
धौंसा धुनि गज्जे, दुहूं दिसि बज्जे, सुनि धुनि लज्जे, बादर हैं।
नीसान जु फहरैं, इत उत छहरैं, पावक-लहरैं-सी लगतीं।
छुबती नाकि नाका, मनहूं सलाका, धुजा-पताका, नभ जगती।

(३) संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै, ताहि
तुरत लुटावत विलंब उर लावैं ना।
कहै 'पदमाकर' सु हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के वितरि विचारैं ना।
गंज-गज बकस महीप रघुनाथ राव,
याही गज-धोखे कहूं काहू देहि टारैं ना।
याही डर गिरजा गजानन को गोइ रही,
गिरि तें गरेतें निज गोद तें उतारैं ना।

अंतिम उदाहरण दानवीरता का है। इसमें शक्ति का चमत्कार

है। राजा रघुनाथराव की उदारता के प्रति एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ऐसे ढंग से रक्खा गया है कि पाठक कवि की सूझ की सराहना किये बिना नहीं रहता। तथापि जवांदराजी के सिवा इसमें वह तत्व नहीं है जो प्रसुप्त रत्यानुभूति को प्रज्वलित कर सके, या दया की भावना को जगा सके। कह सकते हैं कि कवि मर्म को स्पर्श कर सकने की क्षमता उसमें नहीं पैदा कर पाया है।

यही दशा पद्माकर की भक्ति विषयक रचनाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है उनमें भी उनकी आत्मा का तादात्म्य लक्षित नहीं होता। यद्यपि एक स्थल पर उन्होंने सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किया है, परन्तु शायद शृंगार की भावना में वे मुक्ति नहीं पा सके। उनकी रुचि में स्थायी परिवर्तन नहीं हो पाया या यों कहें भक्ति की भावना उनके अन्तर से नहीं निकली। भावों के आवेग रूप में वे उसे अपने आराध्य के समीप नहीं रख पाये। उसमें हृदय के योग का अभाव है। जब उन्होंने शृंगारी जीवन की व्यर्थता से दुखी होकर यह कहा था—

ह्वै थिर मंदिर में न रह्यो
गिरि कंदर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाये न कै कविता
रघुराज-कथा न यथामति गाई।
यों पछितात कहै 'पदमाकर'
वा गा [illegible] कही निज पुरखलाई।

स्वारथ हू न कियो परमारथ
यों ही अकारथ बैस बिताई।

तब आशा बंधी थी कि उनकी वाणी इस दूसरी दिशा में भी उतनी ही तरल सरल होकर बहेगी, किन्तु उनकी 'गंगालहरी' में भी उनके हृदय का रस बराबर घुल नहीं पाया है। वहां भी अनुप्रासों की छटा ही विशेष है। मानस की वृत्तियों को द्रवित करनेवाले भावों की योजना नहीं है। यथा गंगा भागीरथी के प्रति उनका कहना है कि—

सारमाला सत्य की बिचारमाला बेदन की,
भारी भागमाला है भगीरथ नरेश की।
तपमाला जह्नु की मु जयमाला जोगिन की,
आछी आपमाला या अनादि ब्रह्मबेश की।
कहैं 'पदमाकर' प्रमान माला पुन्यन की,
गंगाजू की धारा धनमाला है धनेस की।
ज्ञानमाला गुरु की गुमानमाला ज्ञानिन की,
ध्यानमाला ध्रुव मौलिमाला है महेस की।

इसलिए पद्माकर शृंगारी कवि हैं और भाषा पर उनका अतुल अधिकार है। अपनी दोनों विशेषताओं के लिए ब्रजभाषा के कवियों में वे प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। भाषा को स्वच्छ और समर्थ बनाने का उन्हें विशेष श्रेय है।

मतिराम

रीति काल के कवियों पर कुछ लिखते समय मतिराम को छोड़ने से काम नही चलेगा। वे ही तो एक ऐसे कवि हैं जो अपने युग के रंग मे सब से अधिक रंगे हैं। उनका रोम-रोम रीतिकाल की विशेषताओं में पूर्ण है। उन्होने अपने कवि जीवन का सदुपयोग उसी केन्द्रबिन्दु के आस पास विचरण करने मे समझा है। अपनी सारी प्रतिभा को कविता कामनी के बाह्य शृंगार मे लगा दिया है। उनके काव्य के विषय गिने-चुने हैं, जैसे अपने आश्रयदाता की वीरता या दानशीलता की प्रशंसा या दांपत्य जीवन का केलिकलाप। इसमे उन्होंने अपनी समस्त कला-कुशलता को लगा दिया है। भक्तिकाल मे कवि तो अनेक हुए हैं, जिन्होंने अन्तर के पट खोल दिये हे। भावों की गंगा मे सार्वजनिक जीवन को बड़ी देर तक स्नान कराया है, लेकिन उस काल मे उतना कला प्रेम नही रहा। उनकी अन्तरमुखी प्रवृत्ति बाह्य शृंगार पर अधिक ध्यान न दे पायी। इस कमी को रीतिकाल ने पूरा किया, बल्कि इसकी पूर्ति मे लगकर वह इसी मे रम गया। धीरे-धीरे कला का कंकाल ही उसके हाथ मे रह गया, भाव की आत्मा से वह अपरिचित हो गया। बीच-बीच मे ऐसे सुकवि अवश्य पैदा हुए हैं जिन्होंने कला के मार्ग को छोड़ा तो नहीं परन्तु अपनी प्रतिभा के बल पर उसे हृदयग्राही बना दिया है। कुछ धर्मप्राण भारत की इस पावन रज को भी श्रेय है, जो धर्मदृष्टि बिना

किसी व्यवस्था का ज्ञान नहीं होने देती। इसी के फल-स्वरूप भक्तिकाल के दिव्य चरित्र राधा-कृष्ण रीतिकाल के भी काल में स्वीकार किये जाते रहे हैं। परन्तु युग-परिवर्तन के साथ उनकी लीलाओं में भी परिवर्तन आ गया है। वे हमारे अपने जीवन के धरातल पर उतर आये हैं। उनके क्रियाकलाप, उनके प्रेमाभिनय, उनके लीला-लास्य सभी मानवी हैं। वासना उनका भोजन है। विलास उनका सकता। मतिराम की कला में भी उनकी अवतारणा है और इसी रूप में। मतिराम में कुछ विशेषता है तो उनकी कला-कुशलता की। कृष्ण और राधा के मानवी रूप और विलासी जीवन में थोड़ा भी संस्कार करने की उन्होने आवश्यकता नहीं समझी। कला का उत्कर्ष दिखाने मे ही उनका सारा प्रयास लग गया है। इसीलिए उनमें अन्वेषण कौशल का चमत्कार है और चित्रण की पटुता भी है। रति-मन्दिर और उसके आसपास होने वाली लीलाओं को बड़ी विदग्धता मे उन्होंने दर्शाया है। नाना प्रकार, नाना रूपों और नाना युक्तियों से प्रिया का प्रियतम के साथ विलास-अभिनय उन्होने चित्रित किया है। उनके काव्य को पढ़कर यदि कोई मानव जीवन के सम्बन्ध में धारणा बनाना चाहे तो गृहस्थाश्रम को छोड शेष तीन आश्रमो की व्यवस्था व्यर्थ जान पड़ेगी, और गृहस्थाश्रम भी अपनी पूर्णता के साथ चित्रित नहीं हुआ है। उसके कर्तव्य, उसके दायित्व उनके काव्य में झांकने तक नही पाये हैं। रति-मन्दिर के द्वार से बाहर उन्होंने कहीं पांव दिया है तो केलिकुंजो में, गोकुल की कुंज गलियों में; सहेट स्थानो में। यदि नायक नायिका के अतिरिक्त किसी समाज की बात कही है तो सखियो की, दूतियों की—बस, इससे आगे नहीं।

इसका फल यह हुआ कि उनकी कला निष्प्राण-सी है। वह सजीवता के साथ हृदय पर असर नहीं करती। उसमें वाह्य तड़क-भड़क प्रचुर मात्रा में है। हृदय की बात बहुत कम है। जहां अनजान में कुछ लेखनी से निकल गया है वह सुन्दर बन पड़ा है। क्योंकि मतिराम की भाषा का माधुर्य अनोखा है। उनकी शैली बड़ी स्वच्छ है। इस दाम्पत्य-प्रेम के अतिरिक्त अपने आश्रयदाता की प्रशंसा आदि में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उतना जोरदार नहीं है। जिसके लिए मतिराम प्रसिद्ध हैं वह है उनका 'रसराज'। इस 'रसराज' में नायिकाओं के हाव-भाव और आनन्द-विनोद के चित्रों की भरमार है। शृंगार प्रेमियों में इस ग्रंथ का बड़ा आदर रहा है। राजदरबार के विलासी जीवन में जो कला और साहित्य पनपा मतिराम का काव्य उसका बड़ा सुन्दर प्रतीक है। इस काव्य के मोहक प्रभाव ने सार्वजनिक जीवन पर बड़ा मादक प्रभाव डाला है। नारी को विलास की सामग्री समझने में इसने बहुत कुछ योग दिया है। साहित्य की पाठशाला में यह ग्रंथ बिना किसी एकाडेमी की स्वीकृति के सदियों तक पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत रहा है। अब तक पुराने ख्याल-वादी 'रसराज' और 'जगदविनोद' (पद्माकरकृत) के अध्ययन बिना काव्य में किसी के प्रवेश का अधिकार नहीं मानते। लेकिन नई दुनियां से इसका पठन-पाठन उठता जा रहा है।

यह सब कुछ होते हुए भी रीतिकाल की ये रचनाएँ रद्दी की टोकरी में फेंक देने लायक नहीं हैं। भाषा-संस्कार की दृष्टि से देखें तो ये रचनाएं अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती हैं।

सौंदर्य शास्त्र के अनुसार देखें तो इनका एक-एक छन्द प्राचीन ग्रीक मूर्तियाँ आंखों के आगे खड़ी कर देता है। उसमें एक-एक भाव भंगिमा और एक एक अदा का सूक्ष्म अंकन भी नहीं छूटने पाया है। मानव जीवन की पूर्णता के लिए, सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा के लिए भी इनका मूल्य कम नहीं है। इनका एकान्त तिरस्कार करने मे जीवन से सौंदर्यानुभूति को निकाल बाहर फेंक देना होगा जो मन की अस्वस्थता का ही परिचायक होगा। फिर उसमें मतिराम की कुछ सुन्दर और हृदयस्पर्शी रचनाएं भी हैं जो हर दृष्टि से द्रष्टव्य है, जैसे—

(१) क्यो इन आखिन सो निरसंक ह्वै,
मोहन को तन-पानिप पीजैं।
नैकु निहारै कलंक लगै
इहि गाव बसे कहौ कैसे क जीजै।
होत रहै मन यो 'मतिराम'
कहूँ बन जाय बडो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु
ह्वै मुरली अधरारस पीजैं।

(२) ह्यां मिलि मोहन सो 'मतिराम'
सुकेलि करी अति आनन्दवारी।
तेई लता-द्रुम देखत दुख
चले अँसुवा अँखियान तें भारी।

रोए से, रोचन मोए से लोचन
सोए न सोचन रैंन बिताई ।
\+ + +
कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ्यो,
तनु रोम उठ्यो अँखिया भरि आई ।

मानस शास्त्र के एक अंग का कैसा सूक्ष्म ज्ञान इन पंक्तियों मे है । यह भी अनवरत साधना का फल है । यद्यपि यह साधना मनुष्य की वासनात्मक प्रवृत्ति को जगाने मे ही विशेष रूप से लगी है । मनुष्य जीवन मे वासना और रति का जो स्थान है, उस सीमा का उल्लंघन करने के कारण ही हम इसे हेय कहते हैं । यदि मर्यादा का ध्यान रख कर कवि अपने कर्म मे प्रवृत्त होता, तो जीवन की एक आवश्यकता के रूप मे दांपत्य-प्रेम चर्चा भी कोई त्याज्य नही है । परन्तु क्या कवि किसी मर्यादा से बंधा हुआ है ? मयार्दा से बन्धा हुआ न भी हो तो भी कवि को यह अधिकार तो नही दिया जा सकता कि सब समय विकारजन्य वातावरण मे सांस लेने के अनुकूल परिस्थिति पैदा करें । विशेष समय और विशेष अवस्था के लिए इस तरह साहित्य भी प्राणप्रद हो सकता है । उसका यह उपयोग भी थोड़ा नहीं है । पर लोगों में उसके उचित आस्वादन की सद्बुद्धि होनी चाहिए ।